पुष्टिविधानम्

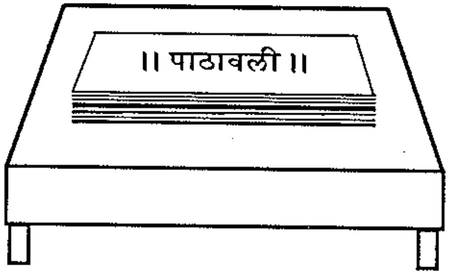

सहयोग-प्रकाशन

सहयोग-प्रकाशन :

१ : गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी महाराज 'प्रथमेश' (प्रति : २०००)
बड़े मथुराधीशजीका मन्दिर, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग,
पाटन पोल, कोटा, राजस्थान. ३२४ ००६.
गिरिधरनिवास, प्लॉट नं.७, गांधीग्राममार्ग, जुहु, मुंबई ४०० ०४९.

२ : भैरवदास मीमाणी (प्रति : ५००)
सूरज कन्टेनर्स लिमिटेड, ६०-बी, चौरंगी रोड़, कलकत्ता, ६०० ०२०.

३ : एल. नरोत्तमदास (प्रति : ५००)
अतुल टावर्स, सी-ब्लॉक, ३ रा माला, इरानीवाड़ी,
कांदीवली (पश्चिम), मुंबई, ४०० ०६७.

४ : दीपक और वीरेन्द्र मेहता (प्रति : ५००)
ए-६, तीर्थ, लल्लुभाई पार्क, अंधेरी (प.) मुंबई, ४०० ०५८.

५ : बालकृष्णदास नारणदास शेठ (प्रति : ५००)
३०३, पारेख प्लाज़ा, वल्लभभाई रोड़, विलेपार्ले (प.) मुंबई, ४०० ०५६.

६ : कृष्णकान्त छोटालाल वोरा (प्रति : ५००)
बी/१५, गुजराती सोसायटी, नेहरु रोड़,
विलेपार्ले (पूर्व), मुंबई ४०० ०५७.

७ : पी.कुंभनानी (प्रति : ५००)
४९, सुखमनि, बोमनजी पिटिट रोड़,
मुंबई, ४०० ०२६.

सम्पादक : गोस्वामी श्याम मनोहर.

निःशुल्कवितरणार्थ

प्रकाशनकाल : महाप्रभुश्रीवल्लभप्राकट्योत्सव वर्ष : ५१८ वि.सं.२०५२.

मुद्रक : एच. के. प्रिन्टर्स, १२०, शिवशक्ति इन्डस्ट्रीयल एस्टेट, मरोल, अंधेरी (पूर्व), मुंबई ४०० ०५९.

प्रकाशकीय

पुष्टिसम्प्रदायप्रवर्तक महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा उपदिष्ट रसात्मिका भक्ति और प्रपत्ति के स्थायिभावोंकी मीमांसा यदि करनी हो तो अधोनिर्दिष्ट वचनोंसे अधिक सुन्दर भावाभिव्यक्ति मिलनी दुःशक है :—

> **तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत. तस्मात् तत् 'सुकृतम्' उच्यतइति यद् वै तत् सुकृतम्. रसो वै सः, रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति. कोह्येव अन्यात् – कः प्राण्यात् – यद् एष आकाशे आनन्दो न स्यात्? एष ह्येव आनन्दयाति. यदा ह्येव एतस्मिन् अदृश्ये अनात्म्ये अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते; अथ सो अभयं गतो भवति. यदाह्येव एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते; अथ तस्य भयं भवति. तत्त्वेव भयं विदुषो अमन्वानस्य...'आनन्दो ब्रह्म' इति व्यजानात्. आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते. आनन्देन जातानि जीवन्ति. आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति (तैत्तिरीयोपनिषद् : २।७-३।६).**

इस श्रुतिवचनोक्त स्थायिभावका विभेदन न होता हो तो सञ्चारिभावतया किसी भी भाव — चाहे वह पुष्टिमार्गीय हो या मर्यादामार्गीय हो या प्रवाहमार्गीय भाव हो, अर्थात् कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय भक्तिमार्गीय या प्रपत्तिमार्गीय शास्त्रप्रशंसित भाव हो; अथवा काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यादि दुर्गुणोंवाले शास्त्रविनिन्दित भाव हों — सभी भावोंको भगवल्लीलाके रूपमें निहार कर जीवात्मा अभयानन्दका अनुभव करनेमें सक्षम हो पाती है.

यहां 'अभयानन्द' पदके अपोह्य अर्थतया 'आनन्दानुभूतिरहित-अभयता' अथवा 'भीतिसहित-आनन्दानुभूति' यों दो सम्भावनायें प्रकट होती है. प्रथमको हम मुक्तिका एक प्रकारविशेष तो द्वितीयको संसृतिका प्रकारविशेष मान कर चल सकते हैं.

प्रकारान्तरसे इसे यों भी समझा जा सकता है कि अभयानन्दकी अनुभूति तो पारमात्मिक अनुभूति ही होती है, जबकि आत्मकैवल्यकी अनुभूतिमें

अभयता यदि प्रकट हो भी जाये तब भी होती है वह आनन्दानुभूतिरहित ही. इसी तरह वैषयिकद्वैतपर अवलम्बित होनेवाली आनन्दानुभूति भी कदापि भीतिरहित नहीं हो पाती है. **"यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति"(छान्दोग्योपनिषद्: ७।२३।१)** श्रुति इसी तथ्यको उजागर करती है. इसी वचनकी भूमिकाके रूपमें इस 'भूमा- सुख' नामिका अनुभूतिकी ऊंचाईतक पहुंचनेके अनेक सोपान गिनाये गये हैं: सद्वाणी विज्ञान मति श्रद्धा निष्ठा और कर्म.

महाप्रभुने जब श्रीसूरदासजी प्रभृति अपने समीप आनेवाले महापुरुषोंको—**"सूर ह्वैके काहे घिघियात है? कछु भगवल्लीला गा!"** जैसे उपदेश दिये थे, तब ऐसी ही सद्वाणीद्वारा भागवत विज्ञान, भागवती मति, भागवती श्रद्धा, भागवती निष्ठा और भगवत्सेवागुणगानरूप कर्म में उन्हें ओतप्रोत कर दिया था. ऐसा ओतप्रोत कि साधारणजनोंमें स्पृहणीयतम माने जाते तत्कालीन मोगलसाम्राज्यके दरबारी आमन्त्रण भी इन भगवदीयोंके मनको लुभा नहीं पाये! **"नाहिन रह्यो मनमें ठौर. नन्दनन्दन अछत कैसे आनिए उर और!"** श्रीकुंभनदासजी भी **"भक्तन्कों सिकरीसों कहा काम... कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु यह सब झूंठो धाम"** जैसी भगवत्तल्लीनताकी मस्तीभरी वाणीमें मोगल-वैभवकी भी तृणवत्तुच्छताको खुल कर कह पाये. यह सद्वाणीके प्रथम सोपानसे प्रारम्भ होते क्रमशः आरोहणकी प्रक्रियामें विज्ञान मति श्रद्धा निष्ठा और स्वकर्म या स्वधर्म के अनुपालनकी ऊंचाईपर पहुंचेनेवाले भगवदीयोंमें प्रकट हुवा अभयानन्द ही तो था!

आज महाप्रभुकी सद्वाणीसे विमुख बने हम आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके आधुनिक नन्दालयोंमें, वस्तुतः तो लक्ष्मीके वाहन ही परन्तु प्रवेशके समय स्वयं श्रीलक्ष्मीजीकी सी ही परमभगवदीयताका रूप धारण कर लेनेवाली आधुनिक पूतनाओंने हमारे भगवद्भजनमेंसे भजनानन्दकी पुष्टि हमसे छीन ली है. उसे आजीविकोपार्जन द्वारा उदरपूर्तिकी तुष्टिमें विकृत बना दिया गया है. परमानन्दरूप श्रीनन्दके भवनमें मुक्तिगेहिनी श्रीयशोदाके पयःपान करनेवाले परब्रह्म सच्चिदानन्द श्रीनन्दनन्दनको विषपान करानेके मनोरथोंको हृदयोंमें संजोये रखनेवाली ये आधुनिक पूतनायें निर्भय मार्जारीकी तरह सर्वत्र डोल रही हैं. हमारे आधुनिक नन्दालयोंका परिकर इनके सामने क्षुद्र मूषिका होनेके

अलावा अन्य कोई रूप ही प्रकट नहीं कर पाता है. वैसे तो द्वापरयुगमें भी उसने श्रीनन्दके भवनमें प्रविष्ट हो कर अपने विषलिप्त स्तन श्रीकृष्णके मुखारविन्दमें हठात् ठूंसने ही चाहे थे. तब परन्तु, क्योंकि मुक्तिगेहिनी श्रीयशोदाके गोकुलमें निवास करनेवाली वेदोपनिषद्की ऋचायें अर्थात् श्रुतिरूपा श्रीगोपीजनोंके भाव इतने प्रबल और स्थायी थे कि उनके भावोंके अनुरूप, आलम्बनविभावात्मक श्रीनन्दयशोदानन्दन श्रीकृष्णने उस बकीके प्राण ही हर लिये थे! श्रीलक्ष्मीजीका रूप धारण करनेवाली पूतना चरणसेवा करनेके बजाय पयःपान करानेका रसाभास प्रकट करनेवाला जो नाटक रचने चली थी! अतएव श्रीनन्दके व्रजमें, या यों कह लो कि तापसद्रुमोंवाले बृहद्वन एवं वृन्दावन में, तब भी जैसे लोभ-क्रोधादि दैत्य निवास करते थे और तब इनका भी संहार किया गया था. कभी वेदोपनिषद्के प्रमेयरूप श्रीकृष्णने ही—तो कभी वेदोपनिषदादि प्रमाणरूप श्रीबलरामने. आज उसके विपरीत हमारे आधुनिक गोकुलमें लोभ और अनृत की तीखी चोंचवाली बकासुरी वाणी हमारे सेव्यस्वरूपोंको निगल जानेवाले दाम्भिक अभिप्रायोंके वश तथाकथित आत्मनिवेदनका सत्संग घर बैठे कराने लग गयी है!

अतएव आधुनिक पुष्टिमार्गीय महान् कवि भी "नाहिन रह्यो मनें ठौर. नन्दनन्दन अछत कैसे आनिए उर और!" का गीत गाने सक्षम नहीं रह गये हैं. आधुनिक पुष्टिमार्गीय काव्यवाणी अब हमें नये सिरेसे कुछ ऐसा ही समझाना चाहती है कि हमारेलिये **"आनन्देन जातानि जीवन्ति"** वचनानुसारी निष्काम जीवन जीना बहोत मुश्किल काम होनेसे हमारे जीवनका वास्तविक स्वरूप तो अतृप्त वासनायें ही होती हैं: **"अतृप्तवासनया वयं जायामहे, ययातृप्तवासनया जाताः जीवामः, अतृप्तवासनां प्रयामोऽभिसंविशामो"** अर्थात् हम अतृप्त वासनाओंसे पैदा हुवे हैं, अतृप्त वासनाओंको संजोये हुवे जीते हैं; और अतृप्त वासनाओंमें ही लीन हो जाना हमारी नियति है!!"

जहां तक अविद्यारूपा बकी पूतनाके आकर्षणवश लोभ-अनृतवाली बकासुरी वाणीके पठन-पाठनके कारण पनपी आजीविकार्थ भगवत्सेवा भागवतकथा भगवल्लीलास्थलोंकी यात्रा भगवन्नामदीक्षा भगवत्स्वरूप भगवत्सेवामनोरथ और भगवत्प्रसाद के क्रयविक्रय (जिसे 'न्योछावर'के छद्ममें हम खपा देना चाहते हैं) वाली हमारी आधुनिक पुष्टिमार्गीय जीवनप्रणालीका प्रश्न उठता है तो

अतृप्तवासनाकी बात एक वास्तविकता हो सकती है. वैसे तो निष्कामजीवन जीना भी एक कठिन काम हो सकता है. फिर भी भगवत्सेवा भागवतकथा भगवल्लीलास्थलोंकी यात्रा भगवन्नामदीक्षा भगवत्स्वरूप भगवत्सेवामनोरथ भगवत्प्रसाद का हम आजीविकार्थ या याचितायाचित धनसंग्रहार्थ प्रयोग बन्द कर दें तो, पुनः निष्कामजीवन चाहे शक्य हो या न हो, परन्तु जीवनमें निष्कामभक्ति, मुझे नही लगता अशक्य रह पायेगी!

एतदर्थ श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणोंकी सद्वाणीके शब्द-अर्थ-तात्पर्योका अवगाहन, तदनुसारी समझ=विज्ञान, विज्ञानानुसारिणी मति, मत्यनुसारिणी श्रद्धा, श्रद्धानुसारिणी निष्ठा, और निष्ठानुसारिणी कृति को एकबार पुनः आज़मानेकी आवश्यकता है. यदि एक बार भी इस दिव्य एवं महान् प्रयोगको हम कर पायें तो निश्चित ही हमारी सारी दुविधाओंका अन्त आ सकता है. कहीं वेदार्थरूप श्रीवसुदेवके औरस ज्येष्ठपुत्र तथा परमानन्दरूप श्रीनन्दके भी पालित ज्येष्ठपुत्र श्रीबलरामके प्रमाणबलके कारण; तो कहीं इन्हीं दोनोंके आत्मज अर्थात् श्रीबलरामके अनुज श्रीकृष्णके प्रमेयबलके कारण भी यथायथ अविद्या और तन्मूलक अन्य सारी आसुरी बाधाओंपर हम भी विजय पा सकते हैं! अतएव महाप्रभुका सुस्पष्ट उद्घोष है: **शास्त्रम् अवगत्य मनो-वाग्-देहैः कृष्णः सेव्यः.**

श्रीमदाचार्यचरण: दमला! तें कछु सुन्यो?
श्रीदामोदरदासजी: महाराज! मैंने श्रीठाकुरजीके बचन सुनै तो सही परि समुझ्यो नाहीं.

श्रीठाकुरजीके वचन हमें सुनानेंको आज भी श्रीमदाचार्यचरण तथा श्रीमत्प्रभुचरण तो उतने ही उत्कण्ठित हैं. हम आधुनिक पुष्टिमार्गीय, परन्तु, कहीं ऐसे तो कहना नहीं चाहते हैं कि—

महाराज! समुझ्यो तो सही परि सुनिबो नाहिं चाहत हूं. सुनाई हू परि जाय तोऊ कहिबो नाहिं चाहत हूं. कबहूंक कहिबो हू पड़े तो करिबो-कराईबो नाहिं चाहत हूं.
श्रीमदाचार्यचरण: सो काहेते?
आधुनिक पुष्टिजीव: सेवाकथाप्रपत्तिमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्णएवाजीविका मम!

'पुष्टिविधानम्' नामक इस ग्रन्थमें पूर्वाचार्योंके उन ग्रन्थोंको समायोजित किया गया है कि जिनमें न केवल आचार्यचरणकालीन ही परन्तु सर्वदा सर्वत्र श्रीमदाचार्यवाणीमें निष्ठा रखनेवाले निखिल पुष्टिजीवोंको पुष्टिप्रभुकी पुष्टिकी इतिकर्तव्यताका उपदेश दिया गया है. इन ग्रन्थोंके पठन-पाठन और प्रवचन में सौकर्यार्थ कुछ बातें कोष्ठकविन्यासान्तर्गत शीर्षकोंद्वारा तथा उन शीर्षकोंके अनुसारी श्लोकान्तःश्लिष्ट 'क'कारादि मातृकाविन्यास तथा संख्याविन्यास द्वारा भी स्पष्ट करनेका प्रयोग या प्रयास किया गया है. इससे मूलवचनोंका तात्पर्यावगाहन सुबोध हो पायेगा. हमें आशा और विश्वास है कि प्रारम्भमें यह थोड़ा-बहोत उलझन भरा लगनेपर भी कुछ धीरजके साथ देखने-पढ़नेपर सभी निष्ठाशील पुष्टिमार्गियोंको प्रदत्त पाठावलीके अवगाहनमें यत्किञ्चिद् उपयोगी तो होगा ही.

मूलग्रन्थोंमें बहुशः जो पाठभेद मिलता है उसका उल्लेख करना यहां आवश्यक न लगता होनेसे, किया नहीं गया है. सामान्यतया प्रचलित पाठ ही लिये गये हैं. 'साधनदीपिका'की किसी हस्तलिखित प्रतिके उपलब्ध न होनेके कारण मुद्रित पाठगत अनेक अशुद्धियोंको यथामति संशोधित किया गया है. इस संशोधनप्रक्रियामें जीवसुलभ अज्ञान-प्रमादादिवश यदि किसी तरहका अन्यथात्व हो गया हो तो श्रीगोपीनाथप्रभुचरण अपना मूढ़ निजजन जानकर क्षमा करेंगे.

इस 'पुष्टिविधानम्'के सम्पादनकर्ममें सहयोग प्रदान करनेवाले श्रीमनिष बाराई, श्रीविपुल बाराई तथा श्रीधर्मेन्द्र झाला के प्रति आपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुवे; तथा प्रकाशनार्थ समुद्यत सभी सहयोगी प्रकाशकोंकी ओरसे तथा स्वयं अपनी ओरसे भी, इस ग्रन्थको पुष्टिप्रभु श्रीनन्दनन्दन, पुष्टिमार्गप्रवर्तक श्रीमदाचार्यचरण एवं तदात्मजद्वय श्रीमत्प्रभुचरणों को समर्पित करते हुवे...

चैत्रकृष्णा नवमी वि.सं.२०५२. गोस्वामी श्याम मनोहर
पार्ले(मुंबई)किशनगढ़

॥ अमृतवचनावली ॥

(१)जो कटोरी (गहने) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यको आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो; याकेलिए गोअनकों खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो (यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे).

[श्रीमहाप्रभु : घरुवार्ता-३].

(२)धनादिकी कामनापूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन-अर्चन आदि किये जाते हैं उन्हें कर्ममार्गीय समझने चाहिये. उदरपोषणार्थ आजीविकाके उपार्जनके रूपमें जो श्रवण-कीर्तन-अर्चन आदि किये जाते हैं उन्हें तो खेतीवारीकी तरह 'लौकिक कर्म' ही कहना चाहिये. मलप्रक्षालानार्थ गङ्गाजलको प्रयोगमें लाने जैसा यह निषिद्धाचरण है; और ऐसा दुष्कृत्य करनेवाला पापभागी ही होता है.

[श्रीप्रभुचरण : भक्तिहंस].

(३)अपने सेव्य-स्वरूपकी सेवा आप ही करनी. और उत्सवादि समयानुसार, अपने वित्त अनुसार करने, वस्त्राभूषण भांति-भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनी.

[श्रीगोकुलनाथजी-चतुर्थेश : २४ वचनामृत].

(४)जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते चौवीस टका पूंजी करि कोड़ी बेचते. सो श्रीठाकुरजीकी पूंजीमेंते तो कासिदको दियो न जाई सो कमाईको टका दिये. तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद

लेते, और नित्यको नेग बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो; ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो! या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई—आपुनी सेवा न भई—राजभोगको नागा माने. धैर्य यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्य खान-पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पाये—दुःखक्लेश न पाये.

[श्रीहरिरायजी-द्वितीयेश : भावप्रकाश ८४ वैष्णवनकी वार्ता-७६].

(५)पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे कर किसी दूसरेके द्वारा सेवा कराई जाती हो तो चित्तमें अहंकार तो बढ़ता है परन्तु वह भगवान्‌में कभी चोंट नहीं सकता. भगवत्सेवार्थ किसी दूसरेसे पारिश्रमिक धन लिये जानेपर तो, जैसे पंडा-पुरोहितोंको यज्ञयागादिका फल नहीं मिलता परन्तु यजमानोंको ही मिलता है, वैसे ही सेवाकर्ताकी सेवा निष्फल बन जाती है. यजमान, जैसे, दक्षिणा दे कर पुरोहितोंद्वारा यज्ञयाग करा लेते हैं, ऐसे ही भगवत्सेवा (आजकल जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें वैष्णवगण गुसांई-मुखिया-भितरिया-समाधानीकी बटालियनसे करवा लेते हैं उसी तरह : अनुवादक) करा लेनेमें क्या बुराई है? वहां कर्ममार्गमें वह विहित होनेसे पुरोहितोंसे कर्म सम्पन्न करा लेना आपत्तिजनक नहीं होता. भक्तिमार्गमें, परन्तु, इस तरह भगवत्सेवा करा लेनेका कहीं विधान उपलब्ध न होनेसे, किसी दूसरेको धन दे कर सेवा कराना अनुचित ही होता है. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकार (निजगृहमें निजपरिजनोंके सहयोगद्वारा निजी तन-मन-धनसे ही) भगवत्सेवा की जानी चाहिये.

[सुरतस्थ ३/२ गृहाधिपति श्रीपुरुषोत्तमजी : सिद्धा.मुक्ता.विवृ.प्रका.२].

(६)"अत्र गृहस्थानविधानेन, स्वगृहाधिष्ठित-स्वरूप-भजन-परित्यागेन अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति, इति सूचितं भवति" अर्थात् यहां सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरका विधान उपलब्ध होता होनेसे, अपने घरमें विराजते ठाकुरजीकी सेवा छोड़ कर किसी दुसरी जगह (अर्थात् हवेलियोंमें, जैसे

आजकल, भेंट-सामग्री चढ़ा कर नित्य या मनोरथों की झांकी करना वैष्णवोंने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लिया है वैसे) भगवत्सेवा करनेवालोंको कभी भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है.

[श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी : भक्तिवर्धिनीव्याख्या २].

(७)लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू लाभके लिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो 'पाखंडी' और 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ शिवाय जामें निषेध नहीं हे एसी रीतीसूं "मेरो लौकिक सिद्ध होय" एसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय.

[श्रीनृसिंहलालजी महाराज : सिद्धान्तमुक्तावलि-टीका श्लोक १६-१७]

(८)श्रीउदयपुर दरबारको आशीर्वाद! इसके द्वारा सूचित किया जाता है कि चल-अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्वकी व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तियोंकी एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई है. सेवा आदि विषयोंमें पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम किया जायेगा; और यदि पुरातन परम्पराका बाध न होता हो और समिति किसी तरहके सुधारकी इच्छा रखती होगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. और श्रीठाकुरजीका द्रव्य हमारे व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापरा जायेगा, जैसी कि परम्परा आज भी है ही, और इसे निभाया जायेगा. तो भी मेरे पूर्वजोंके समयसे चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क उसी तरह कायम रहेंगे. इसी तरह आय-व्ययको भी उन-उन बहीखातोंमें लिखा जायेगा जैसे कि हालमें लिखा जा रहा है.

[नि.ली.गोस्वामितिलकायित श्रीगोवर्धनलालजी महाराज : डिक्लेरेशन मिति भाद्र-शुक्ला पञ्चमी सं.१९८९=ता.५-९-१९९३].

(९)महाराजको जो आमदनी वैष्णवों आदिसे होती है उसमेंसे घरखर्चेके रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाका खर्चा निभाते हैं. ठाकुरजीकेलिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसे निकाल कर उसमेंसे ठाकुरजीकी सेवाका खर्च

निभाया नहीं जाता है. ठाकुरजीके वैभवका, नेगभोगका, आभूषण-वस्त्र आदिका खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभाते हैं...ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सकती...ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़ती है. महाराज उस भेंटको अपने उपयोगमें ला नहीं सकते.

[नि.ली. अमरेलीवाले गो. श्रीवागीशलालजीके आम-मुखत्यार : "अमरेलीहवेली व्यक्तिगत है या सार्वजनिक" मुद्देपर सन् १९०९-१० में गायकवाडी वड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई ज़वानी].

(१०)जैसे हमारे पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त को पूर्णतया समझ कर वैष्णवधर्मका यथार्थ उपदेश लोगोंको करते थे; और मध्यवर्ती कालमें जिसे सम्पत्ति आदिके कारणोंसे हमने वहोत हद् तक छोड़ दिया है, इसके कारण अधिकांश लोगोंमें साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढिके अनुसार जानकारी वच गयी है.

[नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्य-पञ्चमेश द्वारा मुंबईके वैष्णवोंको लिखित पत्र : 'आश्रय' अप्रिल ८७ के अंकमें प्रकाशित].

(११)वकील : यदि किसी भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें, वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग-भोग केलिये; और श्रीठाकुरजीकी सेवाको निभानेकेलिये भेंट आदि दे कर वित्तजा सेवा करते हों और उस मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते हों तो वह, "मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होता" ऐसा आपका कहना है?.

पू.पा.महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंकेलिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करनेकी कोई प्रक्रिया नहीं है. और ऐसी सेवा की जाती हो तो उसे 'साम्प्रदायिक मन्दिर' नहीं कहा जा सकता.

[सुरतस्थ ३/२ गृहाधिपति नि.ली.पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजीमहाराज : "न-डियादकी हवेली वैयक्तिक है या सार्वजनिक" विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षिके रूपमें दी ज़वानी].

(१२)...इसी तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाती है वह

भी देवद्रव्य होता है; और उसे सामग्रीके काममें नहीं लिया जाता. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी यह नियम पाला जाता है. वहां जो सन्मुखभेंट आती है, उसे किर्तनीया-महावनीया ले जाता है. वह वल्लभकुलका श्रीयमुनाजीका पंडा होता है. दूसरा कोई उसका अनुकरण करे तो वह अनुचित है...हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुखभेंट धरते हैं, वह श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीको धरते हैं, फिर भी उसे आभूषणोंमें वापरी जाती है, सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरनेमें वहोत अनाचार होता है. इस तरह आया हुवा द्रव्य 'देवद्रव्य' वनता है...उसे लेनेवालेकी वुद्धि विगड़े विना नहीं रहती.

[नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज राजनगर: वचनामृत-४८४-८७].

(१३/क)वैष्णवोंके पास जो भी परम पदार्थ है उसका अस्तित्व आजके ही दिनका आभारी है. कालकी भीषणता और परिस्थिति की विषमताके अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणोंके दिव्य सिद्धान्तोंके ऊपर अटल रहनेपर ही जीव मात्रका ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पायेगा. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापर जगत्के जीव दृढ़ रहें तो वैष्णव-हवेलियोंके वैभवोंके कारण जो वैष्णव घरसेवाको भूल चुके थें, संयोगवशात् उन हवेलियोंमें श्रीके दर्शन आज वन्द हुवे हैं, सो वैष्णवोंके घर पुनः भगवत्सेवासे किलकिलाते हो जायेंगे. यह लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायियोंकेलिये मामूली नहीं होगा. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होती है. मुझे श्रद्धा है कि इस कठीन परीक्षामें हम सभीका श्रेय ही सिद्ध होनेवाला है.

(१३/ख)मेरे अनुयायियोंको दो प्रकारसे दीक्षा देता हूं. प्रथम कंठी वांधना तथा दूसरी ब्रह्मसम्वन्धदीक्षा देना. कंठी-वांधना साधारण वैष्णवोंको ही दी जाती है तथा ब्रह्मसम्वन्ध विशेषरूपसे उन अनुयायियोंको, जो सेवामें विशेषरूपसे वढ़ना चाहते हैं. पहली दीक्षाको 'शरण-दीक्षा' कहते हैं तथा दूसरी दीक्षाको 'आत्मनिवेदन' कहते हैं. शरणदीक्षासे वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करनेका ही अधिकारी वनता है तो सेवावाले वैष्णवको ब्रह्मसम्वन्धदीक्षा लेनेके वाद ही अधिकार मिलता है. ब्रह्मसम्वन्धवाला वैष्णव अपने घरमें ही सेवाका अधिकारी होता है...हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासे करते है. इसलिये हम सातोंके सात पुत्रोंके घर 'घर' ही कहलाते है और हमारे घरकी

सृष्टि 'तीसरे-घरकी-सृष्टि' कहलाती है.

[नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज तृतीयेश: (१३/क): श्रीमत्प्रभुचरणप्राकट्योत्सव=ता.२४-१२-४८के दिन पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंकी सभा मुंवईमें अध्यक्षीय प्रवचन (१३/ख) वयान: मूर्तिवा कार्या. सहा. कमि. देवस्थानविभाग खंड उदयपुर एवं कोटा वजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल संख्या.१-४-६४. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक ७।११।६५].

(१४/क)आज मुझे अपने हृदयके उद्गार कहने दो, मेरा हृदय जल रहा है, मन्दिरोंमें द्रव्यसंग्रहकी प्रवृत्तिमात्र रह गई है; और वही अनर्थोंकी जड़ है. ऐसे मन्दिरोंके अस्तित्वसे कोई लाभ नहीं. हमारा सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक है. सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य है परन्तु सार्वजनिक नहीं. ''करत कृपा निज दैवी जीवनपर'' इस उक्तिमें 'निज' शब्दका प्रयोग किया गया है. दैवी जीव कहीं भी हो सकते हैं परन्तु सार्वजनिक रूपसे नहीं. आज हम 'पुष्टि'का नाम लेनेके भी अधिकारी नहीं हैं! हमारे मन्दिर कहां हैं! आजका हमारा जीवन चार्वाक-जीवन हो रहा है. क्या हम, आज जिस प्रकारका सम्प्रदाय है, उसे जिवाना चाहते हैं? यदि सच्चे सम्प्रदायको चाहते हो तो स्वरूपसेवा घर-घरमें पधराओ एवं नामसेवापर भार रखो...भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहोमें सेवा करनेसे ही होगी. आजके इन मन्दिरोंसे कोई लाभ नहीं है, क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी है; और जहां द्रव्य इकठ्ठा होता है वहीं अनर्थ होते हैं. आज सम्प्रदायका विकृत स्वरूप इसीसे है.

[नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी महाराज मुंवई-मद्रास: 'वल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५]

(१४/ख)हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाका पालन कहां कर रहे हैं? हमारे यहां गृहसेवा कहां है? केवल मन्दिरोंके दर्शनोंसे क्या लाभ है? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है ''कृष्णसेवा सदा कार्या''. यदि श्रीमहाप्रभुजी मन्दिरको मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमाओंमें अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरधरजीको सातस्वरूपका मनोरथ करते समय इसी प्रकारकी

चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनको डर था कि घरमेंसे ठाकुरजी मन्दिरमें पधार जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धृत '१४/क' वचनमें) जो कहा वह अक्षरशः सत्य है. तुम अपने घरोंमें ठाकुरजीको पधराओ और सेवा करो.

(१४/ग)पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होना उचित नहीं है. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवको आज्ञा दी है ''गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः'' (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रह कर स्वधर्माचरण करना चाहिये. गोस्वामी बालक भी आचार्य होनेके बावजूद वैष्णव भी हैं. अतः आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाको पालना उनका भी कर्तव्य है...अतः मेरा तो मानना यही है कि आचार्यचरणके सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवोंको स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चाहिये और धर्मग्रन्थोंका पठन-पाठन करना चाहिये. नहीं कि मन्दिरोंमें जाकर...ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासे संगत होनेवाली बात नहीं बल्कि अपनी प्रणालीको भंग करनेवाली बात है.

[दहिसरमें श्रीगोवर्धननाथ हवेली ट्रस्टके संस्थापक पू.पा.नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजीमहाराज: (१४/ख)'वल्लभविज्ञान'. अंक ५-६ वर्ष १९६९, (१४/ग) 'नवप्रकाश' अंक ८ वर्ष ८].

(१५/क)और जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट है तब ठाकुरजीको गोस्वामीके सम्बन्धसे पृथक् कर, ठाकुरजीको सब सम्पत्ति अर्पण कर, अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें हुवे वे ट्रस्ट हैं. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टोंसे जो नेग-भोग चलाया जाता है, वह देवद्रव्यसे चलाया जाता है देवद्रव्यका उपभोग करनेवाले अन्तमें देवलक ही हैं. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखकर जब भोग अरोगाया तब आपने उस द्रव्यसे समर्पित सबका सब प्रसाद गायोंको दिया. यह है साम्प्रदायिक सिद्धान्त. इस प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्तोंका जिस प्रथासे विनाश होकर, आचार्योंको देवलक बनाया जाय, उस प्रथाको जितनी शीघ्र सम्प्रदायसे हटा दी जाय, उतना ही श्रेय इसमें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाजका निहित है.

(१५/ख)भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति है. आचार सेवाका अङ्ग है, सेवाके अनुकूल आचारका पालन किया जाना चाहिये. आचार-पालनको

प्रमुखता देकर भगवत्सेवाका त्याग भी उचित नहीं है. भगवत्सेवा जैसे भी बने करो...गुरु घरोंमें मत भेजो...यदि हम भगवद्द्रव्यको पेटमें डालेंगे तो वह अपराध है. ग्रन्थोंके अध्ययनके प्रति हमें समाजको आकृष्ट करना चाहिये.

[नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराज मुंबई-किशनगढ़: (१५/क) ''आचार्योच्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति''लेख पृष्ठ ७. (१५/ख)'श्रीवल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६९ में प्रकाशित वक्तव्य].

(१६/क)जैसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश और लौकिक कार्य समझ कर नहीं करनेकी श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है, वैसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चाहिये ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करते हैं...वृत्त्यर्थ सेवा करनेसे प्रत्यवाय (दोष) लगता है. जैसे गङ्गाजमुनाजलका उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं किया जा सकता है, वैसे ही सेवाका उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करना चाहिये.

(१६/ख)तन और वित्त प्रभुकेलिये वापरा जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य लगता ही है. अतएव श्रीवल्लभने उपदेश किया है कि ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''. मानसी जो परा है उसे सिद्ध करना हो तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक है. तन और वित्त कहीं एकत्र लगाया जाय तो चित्त भी वहां दिनरात लगा रह सकता है. दलालीका व्यवसाय करनेवालेके व्यवसायमें केवल तनसे श्रम किया जाता है परन्तु उसमें वित्त स्वयंका लगाया नहीं जाता है. अतएव बज़ारके भावोंकी घटबढ़में दलालको तनिक भी मानसिक चिन्ता होती नहीं है... किसी बच्चेका पिता केवल ट्युशन फी देनेके बाद समझ लेता है कि बच्चा परीक्षामें पास हो ही जायेगा. इन तीनोंको फलप्राप्ति होती नहीं क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगती हैं. अब तनुवित्तजा दोनों लगानेवालेके चित्तप्रवण होनेका उदाहरण देखें: एक दुकनदार दुकान और माल की खरीदीमें पूंजी लगा कर व्यापार शुरु करके सुबहसे रात तक वहां उपस्थित रह कर जब तन भी व्यापारमें लगता है तो इस कारणसे दिनरात उसे व्यापारके ही विचार आते रहते हैं: अच्छी तरह व्यापार कैसे करूं–किस तरह व्यापार बढ़े...अतः पुष्टिमार्गमें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होनेके लिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझायी गयी है कि भावपूर्वक

भक्तको तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चाहिये.

[पू.पा.गो.श्रीगोविन्दरायजी महाराज पोरवन्दर: (१६/क) 'सुधाधारा' पृ.११४. (१६/ख) 'सुधाविन्दु' पृ.७३]

(१७)वल्लभमतमें यह सिद्धान्ततः गलत है और ऐसे देवस्थानोंके चढ़ावेका प्रसाद भी खाया नहीं जा सकता है, क्योंकि वहां देवलकत्व ही प्रधान है. आजके युगको देखते हुवे जहां न्यास करना आवश्यक है वहां उपर्युक्त सिद्धान्तोंको ध्यानमें रख कर ही न्यास करना आवश्यक है, जिससे देवलकवृत्तिसे वचा जा सके. यदि ऐसी व्यवस्था नहीं की जाती तो देवद्रव्य होता है, जिसका सेवन करनेसे आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि नर्कपात होगा.

[नि.ली.गो.श्रीरणछोड़ाचार्यजी प्रथमेश: "हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्था हेतु प्रतिवेदन(दि.२५।२।८१)"पृ.१२].

(१८)क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं उसके भोक्ता हैं किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी उसके महाप्रसाद लेने तकके अधिकारी नहीं है. यह आचार्यचरणके इतिहाससे प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है. उसके महाप्रसाद लेनेका केवल गायको ही अधिकार है. अन्यथा उस देवद्रव्यके उपभोग करनेसे निश्चय ही अधःपतन है...सव प्रकारके दान-चढ़ावों व वसूल वसूली करनेका उल्लेख किया गया है, वह भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसे नितान्त विरुद्ध है. हमारे सम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार जो हमारे सम्प्रदायके सेवक हैं, उनका ही द्रव्य गुरु-शिष्यके सम्वन्धसे लेकर सेवामें उपयोग कराया जा सकता है. सम्प्रदायमें सव प्रकारके दान-चढ़ावेका उपयोग सेवामें नहीं किया जाता है; और कदाचित् कहीं किया जाता हो तो वह सम्प्रदायके नियमोंसे विरुद्ध होनेके कारण वन्द कर देना चाहिये.

[पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी-सप्तमेश: "श्रीनाथद्वारा ठिकानेके प्रवन्धकी दिल्ली-योजनाकी आलोचना (ता.१-२-५६)"].

(१९/क)प्रश्न: 'देवद्रव्य' किसे कहते हैं? 'देवद्रव्य'का मतलव, देवका द्रव्य. ऐसा द्रव्य या पदार्थ जो देवको ही उद्देश्य वना करके अर्पण किया

गया हो उसे 'देवद्रव्य' कहते हैं. इसी प्रकार गुरुको उद्देश्य वना करके अर्पण किये गये द्रव्यको 'गुरुद्रव्य' कहा जाता है. प्रभुकी प्रसादी वस्तुको 'महाप्रसाद' कहते हैं...इस प्रकारके मन्दिरोंमें ठाकुरजीके सन्मुखमें भेंट धरे जाते द्रव्यको और ट्रस्टकी ऑफिसमें आते द्रव्यको तो स्पष्ट शब्दोंमें 'देवद्रव्य' कहा जा सकता है; और उस द्रव्यसे सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होनेके वाद महाप्रसादपना तो आता है परन्तु उसके साथ उसमें देवद्रव्यपना भी रहता ही है. इसीके कारण वैष्णवोंको ऐसे महाप्रसादको देवद्रव्य समझकर ही व्यवहार करना चाहिये. ऐसे महाप्रसादको लेनेमें देवद्रव्यका वाध तो रहता ही है.

(१९/ख)मन्दिरके स्थलके फेरवदलके वारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीवालकृष्णलाल-जीने कहा कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं है. इसमें व्यक्तिगत स्वरूप, निजी स्वरूप, की ही वात है; और इसीके कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जैसा नहीं है. मन्दिरका निर्माण भी घर जैसा होता है. कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होते. वैष्णव भी घरमें सेवा करते हैं तथा उसे 'मन्दिर' ही कहते हैं...

['सेवा-देवद्रव्य-विमर्श' ग्रन्थके सहलेखक पू.पा.गो.श्रीवालकृष्णलालजी महोदय सूरतस्थ ३/२ गृहाधीश: (१९/क)'वैष्णववाणी' अंक ३,वर्ष मार्च १९८३. (१९/ख) 'गुजरात समाचार' अंक २५-५-९३में प्रकाशित].

(२०)...ब्रह्मसम्वन्ध लेकर सेवा करनेसे प्रत्येक इन्द्रियोंका भगवान्में विनियोग होता है...मन्दिर-गुरुघर केवल उपदेश ग्रहण करनेकेलिये हैं. सेवा हमें अपने घरोंमें करनी है.

[पू.पा.गो.श्रीमथुरेश्वरजी संस्थापक—श्रीगोवर्धननाथजी मन्दिर, होलिवुड्.ए-न्.वाय्.अमेरिका: 'वल्लभविज्ञान'अंक ५-६ वर्ष १९६५].

(२१)प्रश्न: अपने सम्प्रदायमें मन्दिरको 'मन्दिर' न कह कर 'हवेली' क्यों कहा जाता है?

उत्तर: सामान्यतया इतर हिन्दु-सम्प्रदायमें 'मन्दिर' शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होता है परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जैसी संस्थाका पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने मांथे जो प्रभु पधराये जाते हैं वे प्रभुस्वरूप और उनकी सेवा हरेकको व्यक्तिगतरूपमें उनकी भावनाके

अनुसार पधराये जाते हैं. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवका एकमात्र स्वयंका कर्तव्य बन जाता स्वयंका ही धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा सामुहिक जीवनका विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनका विषय है. जैसे लोकमें पत्नी अथवा माता का पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करनेका उसका व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व और अधिकार होता है. उसी तरह सेवकके जो सेव्यस्वरूप होते हैं उन सेव्यकी सेवा उसका व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होता है. सेवा कोई सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली होनेसे स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जानेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति है... अतः इतर हवेलियोंकी तरह जैसे 'श्रीनाथजीका मन्दिर' शब्द, रूढ हो गया होनेसे, प्रयोग किया जाता है. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती हो ऐसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवस्थान जैसा वह मन्दिर नहीं है.

['सेवा-देवद्रव्य-विमर्श'ग्रन्थके लेखक अ.सौ.वा.पू.पा.गो.श्रीवल्लभरायजी सुरतस्थ ३/२ गृहगोस्वामी : 'पुष्टिने शीतल छांयडे' पृ.सं.१५७-१५८].

(२२)श्रीमहाप्रभुजीने अलग-अलग मन्दिरोंकी प्रणाली खड़ी नहीं की; परन्तु इसमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि थी : प्रत्येक वैष्णवका घर नन्दालय बनना चाहिये...किसी मन्दिरके पड़ौसमें एक वहन रहती है. मन्दिरकी आरतीके घन्टानाद सुनाई देते हैं. सेवा करनेको बैठी हुई वह वहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान कराने जा रही थी कि आरतीका घन्टानाद सुनाई दिये. वह ठाकुरजीको वहीं उसी अवस्थामें छोड़ कर मन्दिरकी ओर दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौट कर घर आई. अब विचार करो कि इस तरह कोई सेवा करे तो उसमें आनन्द कभी आ सकता है? यहां तो प्रत्येक वैष्णवका घर नन्दालय है.

[श्रीमद्भागवततत्त्वमर्मज्ञा श्रीगिरिराजजीहवेली(वडोदा)संचालिका अमेरिकामें सार्वजनिक मन्दिरार्थ स्वयंके सेव्य श्रीगोवर्धननाथजीके स्वरूप पधरा कर वहां नवपुष्टिचेतनाका संचार करनेवाली पू.पा.गो.सुश्रीइन्दिरा बेटीजी : 'वैष्णवपरिवार' अंक जून ९०].

(२३)''अति धन्यवादार्ह है कि आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके

सिद्धान्तनूं कोर्टमें समझायें'' – ''हमारा इसमें पूरा सहयोग होगा, तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक इस कार्यमें सहयोग करनेको तैयार हैं''.

[पुरस्कृतदेवलकताभिनन्दित पू.पा.गो.चि.श्रीहरिरायजीके सिद्धान्तनिष्ठ पितृचरण नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज : मुझे भेजे हुवे दि.२६-१०-८६ और ७-११-८६ के पत्रोंमें].

(२४)मैं तो एक ही बात कहना चाहूंगा कि समाजके भीतर और अपने सम्प्रदायमें इतना अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गया है कि गुजरातके एक गांवमें...पुष्टिमार्गके ही, अपने सम्प्रदायके ही, दो मन्दिर हैं और मन्दिरोंकी दीवाल भी एक ही हैं; परन्तु...ऐसी जबरदस्त प्रतिस्पर्धा वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई है कि मानों एकदूसरेके साथ स्पर्धा कर रहे हों ऐसे. ईर्ष्या-द्वेषका वातावरण जब सेवाके क्षेत्रमें उत्पन्न हो जाता है तो उससे बढ़ कर लोकार्थित्व और क्या हो सकता है! ...जो शॉ-विज़नेस सम्प्रदायमें चल रहा है उसका निवारण हो एतदर्थ एक सुन्दर चर्चासाभाका आयोजन हुवा है...मेरी सविशेष विनंती यह है कि ऐसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फ़ज़ीहत जो सर्वाधिक कहीं होती हो तो गुजरातमें होती है. भागवतमें भी लिखा हुवा है कि ''गुर्जरे क्षीणतां गता''...अतः सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा कहीं साधनी हो तो... और श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तोंके सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता हो तो... गुजरातमें ऐसी सभाओंका आयोजन होना चाहिये...

[पू.पा.गो.चि.श्रीद्रुमिलकुमारजी महोदय : ''पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी,९२. पार्ले-मुंबई) विस्तृतविवरण'' पृ.३१७-३१८]

(२५)पुष्टिमार्ग गुप्त है, दिखावेके लिये तो है ही नहीं, भक्त और भगवान् के आन्तरिक सम्बन्ध दृढ़ करनेका मार्ग है... दोनोंका सम्बन्ध ऐसा होना चाहिये कि किसी तीसरेको उसकी जानकारी न हो पाये. अपना अपने भगवान्के साथ क्या सम्बन्ध है इसे दूसरे किसी व्यक्तिको जतानेकी आवश्यकता ही क्या है? प्रशंसा पानेको? स्वयंकी महत्ता बढ़ानेको? यह तो सभी कुछ बाधक हैं.

[पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी महोदय (श्रीवल्लभाचार्यप्राकट्यपीठ अमरेली-कांदीवली-चम्पारण्य-सूरत) : 'पुष्टिनवनीत' पृ.१२].

–०✳०–

पुष्टिविधानानुक्रमणिका

(१)	मङ्गलाचरणम्	१-३
(२)	श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्	३-७
(३)	श्रीवल्लभाष्टकम्	७-९
(४)	श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्	९-१२
(५)	नामरत्नाख्यस्तोत्रम्	१२-१५
(६)	श्रीयमुनाष्टकम्	१५-१८
(७)	बालबोधः	१८-२१
(८)	सिद्धान्तमुक्तावली	२१-२४
(९)	पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः	२४-२८
(१०)	सिद्धान्तरहस्यम्	२८-२९
(११)	नवरत्नम्	३०-३१
(१२)	अन्तःकरणप्रबोधः	३२-३३
(१३)	विवेकधैर्याश्रयः	३३-३६
(१४)	कृष्णाश्रयस्तोत्रम्	३६-३९
(१५)	चतुःश्लोकी	३९-४०
(१६)	भक्तिवर्धिनी	४०-४२
(१७)	जलभेदः	४२-४७
(१८)	पञ्चपद्यानि	४८-४९
(१९)	संन्यासनिर्णयः	४९-५३
(२०)	निरोधलक्षणम्	५३-५६
(२१)	सेवाफलम्	५६-५८
(२२)	पञ्चश्लोकी	५८-५९
(२३)	साधनप्रकरणम्	५९-६८
(२४)	शिक्षापद्यानि	६८-६९
(२५)	साधनदीपिका	६९-८४
(२६)	चतुःश्लोकी	८५
(२७)	पुष्टि-अस्मिता	८६-८९

पुष्टिविधानम्

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

(१)

(आचार्य-गुरु-भगवद्-वन्दनानि)

चिन्ता-सन्तान-हन्तारो यत्पादाम्बुज-रेणवः ।
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥१॥
यदनुग्रहतो जन्तुः सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥
तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्-वल्लभ-नन्दनम् ॥२॥
अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया ॥
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥
नमामि हृदये शेषे लीला-क्षीराब्धि-शायिनम् ॥
लक्ष्मी-सहस्र-लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम् ॥४॥
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा ॥
षड्भिर्विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम ॥५॥

(श्रीमहाप्रभु[१-८]श्रीप्रभुचरण[९-१०]प्रादुर्भावितस्वरूपादीनां ध्यानम्)

श्रीगोवर्धन-नाथ[१]-पाद-युगलं हैयङ्गवीन-प्रियं[२]
नित्यं श्रीमथुराधिपं[३] सुखकरं श्रीविट्ठलेशं[४] मुदा ॥

श्रीमद्द्वारवतीश[5] गोकुलपति[6] श्रीगोकुलेन्दुं[7] विभुं
श्रीमन्मन्मथमोहनं[8] नटवरं[9] श्रीबालकृष्णं[10] भजेत् ॥६॥
श्रीमद्वल्लभ-विट्ठलौ गिरिधरं गोविन्दरायाभिधं
श्रीमद्बालकृष्ण-गोकुलपती नाथं रघूणांस्तथा ॥
एवं श्रीयदुनायकं किल घनश्यामं च तद्वंशजान्
कालिन्दिं स्वगुरुं गिरिं गुरुविभुं स्वीयप्रभूंश्च स्मरेत् ॥७॥

(प्रमेयरूपभगवद्ध्यानम्)

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालां ॥
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥८॥

(श्रीमदाचार्यचरणस्वरूपध्यानम्)

सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्री-गूढ-भावात्मकं
पुंरूपं च पुनस्तदन्तर्गतं प्रावीविशद् स्वप्रिये ॥
संश्लिष्टावुभयौ बभौ रसमयः कृष्णो हि यत्साक्षिकं
रूपं तत् त्रितयात्मकं परमभिध्येयं सदा वल्लभम् ॥९॥

(श्रीगोपीनाथप्रभुचरणध्यानम्)

श्रीवल्लभ–प्रतिनिधिं तेजोराशीं दयार्णवम् ॥

गुणातीतं गुणनिधिं श्रीगोपीनाथमाश्रये ॥१०॥

(श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणध्यानम्)

सायं कुञ्जालयस्थासनमुपविलसत्स्वर्णपात्रं सुधौतं
राजद्यज्ञोपवीतं परितनुवसनं गौरमम्भोजवक्त्रम् ॥
प्राणानायम्य नासा-पुट-निहित-करं कर्ण-राजद्-विमुक्तं
वन्देऽर्धोन्मीलिताक्षं मृगमदतिलकं विट्ठलेशं सुकेशम् ॥११॥

॥इति मङ्गलाचरणं सम्पूर्णम् ॥

॥ श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् ॥

(२)

(मङ्गलोपक्रमः)

प्राकृतधर्मानाश्रयम् अप्राकृत-निखिल-धर्मरूपमिति ॥
निगमप्रतिपाद्यं यत् तत् शुद्धं साकृति स्तौमि ॥१॥

(स्तोत्रप्राकटयप्रयोजननिरूपणम्)

कलिकाल–तमश्छन्न–दृष्टित्वाद् विदुषामपि ॥
सम्प्रत्यविषयस्तस्य माहात्म्यं समभूद् भुवि ॥२॥
दयया निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः ॥
वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि ॥३॥

तदुक्तमपि दुर्बोधं सुबोधं स्याद् यथा तथा ।।
तन्नामाष्टोत्तरशतं प्रवक्ष्याम्यखिलाघहृत् ।।४।।

(स्तोत्रर्षि-छन्दो-देव-बीज-विनियोग-सिद्धि-निरूपणम्)

ऋषिरग्निकुमारस्तु नाम्नां छन्दो जगत्यसौ ।।
श्रीकृष्णास्यं देवता च बीजं कारुणिकः प्रभुः ।।५।।
विनियोगो भक्तियोग-प्रतिबन्ध-विनाशने ।।
कृष्णाधरामृतास्वाद-सिद्धिरत्र न संशयः ।।६।।

(श्रीमदाचार्यचरणनाम् अष्टोत्तरशतनामानि)

आनन्दः[१] परमानन्दः[२] श्रीकृष्णास्यं[३] कृपानिधिः[४] ।।
दैवोद्धारप्रयत्नात्मा[५] स्मृतिमात्रार्तिनाशनः[६] ।।७।।
श्रीभागवत-गूढार्थ-प्रकाशन-परायणः[७] ।।
साकार-ब्रह्म-वादैक-स्थापको[८] वेदपारगः[९] ।।८।।
मायावाद-निराकर्ता[१०] सर्ववादि-निरासकृत्[११] ।।
भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः[१२] स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः[१३] ।।९।।
अङ्गीकृत्यैव गोपीश-वल्लभी-कृत-मानवः[१४] ।।
अङ्गीकृतौ समर्यादो[१५] महाकारुणिको[१६] विभुः[१७] ।।१०।।
अदेय-दान-दक्षश्च[१८] महोदार-चरित्रवान्[१९] ।।
प्राकृतानुकृति-व्याज-मोहितासुरमानुषः[२०] ।।११।।
वैश्वानरो[२१] वल्लभाख्यः[२२] सद्रूपो[२३] हितकृत्-सताम्[२४] ।।

जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्[२५] निखिलेष्टदः[२६] ।।१२।।
सर्व-लक्षण-सम्पन्नः[२७] श्रीकृष्ण-ज्ञानदो[२८] गुरुः[२९] ।।
स्वानन्द-तुन्दिलः[३०] पद्म-दलायत-विलोचनः[३१] ।।१३।।
कृपा-दृग्-वृष्टि-संहृष्ट-दास-दासी-प्रियः[३२] पतिः[३३] ।।
रोष-दृक्-पात-सम्प्लुष्ट-भक्तद्विट्[३४] भक्तसेवितः[३५] ।।१४।।
सुखसेव्यो[३६] दुराराध्यो[३७] दुर्लभाङ्घ्रिसरोरुहः[३८] ।।
उग्रप्रतापो[३९] वाक्सीधु-पूरिताशेष-सेवकः[४०] ।।१५।।
श्रीभागवत-पीयूष-समुद्र-मथन-क्षमः[४१] ।।
तत्सार-भूत-रासस्त्री-भावपूरित-विग्रहः[४२] ।।१६।।
सान्निध्य-मात्र-दत्त-श्रीकृष्णप्रेमा[४३] विमुक्तिदः[४४] ।।
रासलीलैक-तात्पर्यः[४५] कृपयैतत्कथा-प्रदः[४६] ।।१७।।
विरहानुभवैकार्थ-सर्व-त्यागोपदेशकः[४७] ।।
भक्त्याचारोपदेष्टा[४८] च कर्म-मार्ग-प्रवर्तकः[४९] ।।१८।।
यागादौ भक्तिमार्गैक-साधनत्वोपदेशकः[५०] ।।
पूर्णानन्दः[५१] पूर्णकामो[५२] वाक्पतिर्[५३] विबुधेश्वरः[५४] ।।१९।।
कृष्ण-नाम-सहस्रस्य वक्ता[५५] भक्तपरायणः[५६] ।।
भक्त्याचारोपदेशार्थ-नाना-वाक्य-निरूपकः[५७] ।।२०।।
स्वार्थोज्झिताखिल-प्राण-प्रियः[५८] तादृश-वेष्टितः[५९] ।।
स्वदासार्थ-कृताशेष-साधनः[६०] सर्वशक्तिधृक्[६१] ।।२१।।
भुवि भक्ति-प्रचारैक-कृते स्वान्वयकृत्[६२] पिता[६३] ।।
स्ववंशे स्थापिताशेष-स्वमाहात्म्यः[६४] स्मयापहः[६५] ।।२२।।

पति–व्रता–पतिः[६६] पार–लौकिकैहिक–दानकृत्[६७] ॥
निगूढ-हृदयो[६८]ऽनन्य-भक्तेषु ज्ञापिताशयः[६९] ॥२३॥
उपासनादि – मार्गाति – मुग्ध – मोह – निवारकः[७०] ॥
भक्तिमार्गे सर्वमार्ग-वैलक्षण्यानुभूतिकृत्[७१] ॥२४॥
पृथक्–शरण–मार्गोपदेष्टा[७२] श्रीकृष्ण–हार्दवित्[७३] ॥
प्रतिक्षण – निकुञ्जस्थ– लीला– रस– सुपूरितः[७४] ॥२५॥
तत्कथाक्षिप्त-चित्तस्[७५] तद्विस्मृतान्यो[७६] व्रजप्रियः[७७] ॥
प्रिय-व्रज-स्थितिः[७८] पुष्टि-लीला-कर्ता[७९] रहःप्रियः[८०] ॥२६॥
भक्तेच्छा-पूरकः[८१] सर्वा-ज्ञातलीलो[८२]ऽति-मोहनः[८३] ॥
सर्वासक्तो[८४] भक्तमात्रासक्तः[८५] पतित-पावनः[८६] ॥२७॥
स्वयशो – गान – संहृष्ट – हृदयाम्भोज – विष्टरः[८७] ॥
यशः-पीयूष-लहरी-प्लावितान्य-रसः[८८] परः[८९] ॥२८॥
लीलामृत – रसार्द्रार्द्री – कृताखिल – शरीर – भृत्[९०] ॥
गोवर्धन-स्थित्युत्साहस्[९१] तल्लीला-प्रेम-पूरित[९२]ः ॥२९॥
यज्ञ-भोक्ता[९३] यज्ञ-कर्ता[९४] चतुर्वर्ग-विशारदः[९५] ॥
सत्य-प्रतिज्ञस्[९६] त्रिगुणातीतो[९७] नयविशारदः[९८] ॥३०॥
स्व-कीर्तिवर्धनस्[९९] तत्त्वसूत्र-भाष्य-प्रदर्शकः[१००] ॥
माया-वादाख्य-तूलाग्निर्[१०१] ब्रह्मवाद-निरूपकः[१०२] ॥३१॥
अप्राकृताखिलाकल्प-भूषितः[१०३] सहज-स्मितः[१०४] ॥
त्रिलोकी-भूषणं[१०५] भूमि-भाग्यं[१०६] सहज-सुन्दरः[१०७] ॥३२॥
अशेष– भक्त– सम्प्रार्थ्य– चरणाब्ज– रजो– धनः[१०८] ॥

(अष्टोत्तरशतनामपाठफलम्)

इत्यानन्दनिधेः प्रोक्तं नाम्नामष्टोत्तरं शतम् ॥३३॥
श्रद्धा-विशुद्ध-बुद्धिर्यः पठत्यनुदिनं जनः ॥
स तदेकमनाः सिद्धिम् उक्तां प्राप्नोत्यसंशयम् ॥३४॥
तदप्राप्तौ वृथा मोक्षः तदाप्तौ तद्गतार्थता ॥
अतः सर्वोत्तमं स्तोत्रं जप्यं कृष्णरसार्थिभिः ॥३५॥

॥ इति श्रीमदग्निकुमारप्रोक्तं सर्वोत्तमस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

॥ श्रीवल्लभाष्टकम् ॥

(३)

(भूमौ श्रीवल्लभस्वरूपप्रादुर्भावस्य हेतुप्रयोजने)

श्रीमद्-वृन्दावनेन्दु-प्रकटित-रसिकानन्द-सन्दोहरूप-
स्फूर्जद्-रासादि-लीलामृत-जलधि-भराक्रान्त-सर्वोऽपि शश्वत् ॥
तस्यैवात्मानुभाव-प्रकटन-हृदयस्याज्ञया प्रादुरासीद्
भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिरति-करुणस् तं प्रपद्ये हुताशम् ॥१॥

(श्रीवल्लभप्रादुर्भावाभावे दैवसृष्टिवैयर्थ्यम्)

नाविर्भूयाद् भवांश्चेद् अधि-धरणि-तलं भूतनाथोदितासन्-
मार्गध्वान्तान्धतुल्या निगमपथगतौ देवसर्गेऽपि जाताः ॥
घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजाः प्राप्नुयुर् नैव दैवी

सृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निज-फल-रहिता देव! वैश्वानरैषा ॥२॥

(ऋते वाक्पतिं श्रुत्याशयानवबोधः)

नह्यन्यो वागधीशाच् छ्रुतिगणवचसां भावमाज्ञातुमीष्टे
यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूरग्रतः पत्युरेव॥
तस्माच् छ्रीवल्लभाख्य! त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति
भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः ॥३॥

(स्वास्यप्रादुर्भावितमार्गे निवेदितस्य साक्षादुपभोगः)

प्रादुर्भूतेन भूमौ व्रजपति-चरणाम्भोज-सेवाख्य-वर्त्म-
प्राकट्यं यत् कृतं ते तदुत निजकृते श्रीहुताशेति मन्ये॥
यस्मादस्मिन् स्थितो यत् किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुमिच्छ-
त्यद्धा तद् गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे करोति॥४॥

(न भौतिकाग्नित्वं किन्तु श्रीकृष्णमुखविरहाग्निरूपत्वम्)

उष्णत्वैक-स्वभावोप्यति-शिशिर-वचः- पुञ्ज-पीयूष-वृष्टिर्-
आर्तेष्वत्युग्र-मोहासुर-नृषु युगपत् तापमप्यत्र कुर्वन्॥
स्वस्मिन् कृष्णास्यतां त्वं प्रकटयसि च नो भूतदेवत्वमेतद्
यस्मादानन्ददं श्रीव्रजजननिचये नाशकं चासुराग्नेः॥५॥

(आनन्दरूपश्रीवल्लभाग्नेः आनन्दरूपश्रीकृष्णसेवोदधिजन्म)

आम्नायोक्तं यदम्भो भवनमनलतस्तच्च सत्यं विभो यत्

सर्गादौ भूतरूपाद् अभवदनलतः पुष्करं भूतरूपम्॥
आनन्दैकस्वरूपात् त्वदधिभु यदभूत् कृष्णसेवारसाब्धिश्
चानन्दैक-स्वरूपस् तदखिलमुचितं हेतुसाम्यं हि कार्ये॥६॥

(श्रीवल्लभमुखदर्शनेन श्रीकृष्णदिदृक्षार्तितापः)

स्वामिन् श्रीवल्लभाग्ने! क्षणमपि भवतः सन्निधाने कृपातः
प्राणप्रेष्ठ-व्रजाधीश्वर-वदन-दिदृक्षार्ति-तापो जनेषु॥
यत् प्रादुर्भावमाप्नोत्युचिततरमिदं यत्तु पश्चादपीत्थं
दृष्टेऽप्यस्मिन् मुखेन्दौ प्रचुरतरमुदेत्येव तच् चित्रमेतत्॥७॥

(अज्ञानान्धकारनिवारकत्वेनाग्नित्वं वस्तुतस्तु श्रीकृष्णत्वमेव)

अज्ञानाद्यन्धकार-प्रशमनपटुता-ख्यापनाय त्रिलोक्याम्
अग्नित्वं वर्णितं ते कविभिरपि सदा वस्तुतः कृष्णएव॥
प्रादुर्भूतो भवानित्यनुभव - निगमाद्युक्त - मानैरवेत्य
त्वां श्रीश्रीवल्लभेमे निखिलबुधजनाः गोकुलेशं भजन्ते॥८॥

॥इति श्रीमद्विठ्ठलदीक्षितविरचितं श्रीवल्लभाष्टकं सम्पूर्णम्॥

॥ श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् ॥

(४)

[पुष्टिसम्प्रदायप्रवर्तकस्य गुरोः श्रीवल्लभस्य सप्तधा वर्णनं : धर्मिस्वरूपस्य[1]

ऐश्वर्यादिपड्गुणधर्माणां[२-७] च]

(पुष्टिसम्प्रदायप्रवर्तकगुरोः श्रीवल्लभस्य स्वरूपलक्षणं : "श्रीकृष्णलीला-रूप-सेवाकथा-परायणत्वं" तदेव धर्मिस्वरूप[१]मिति निरूपणम्)

स्फुरत् – कृष्ण – प्रेमामृत – रस – भरेणाति – भरिता
विहारान् कुर्वाणा व्रजपति-विहाराब्धिषु सदा ।।
प्रिया गोपीभर्तुः स्फुरतु सततं 'वल्लभ' इति
प्रथावत्यस्माकं हृदि सुभगमूर्तिः सकरुणा ।।१।।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य ऐश्वर्य[२]रूपो गुणः : श्रीभागवततत्त्व-ज्ञातारूपः)

श्रीभागवत-प्रतिपद-मणिवर-भावांशु-भूषिता मूर्तिः ।।
'श्रीवल्लभा'भिधा नस्तनोतु निजदासस्य सौभाग्यम् ।।२।।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य वीर्य[३]रूपो गुणः : भगवत्सेवाप्रतिव-न्धकवादनिराकर्तृत्वे सति श्रीकृष्णसेवाप्रेरकत्वम्)

मायावादतमो निरस्य मधुभित्-सेवाख्य-वर्त्माद्भुतं
श्रीमद्-गोकुलनाथ-सङ्गमसुधा-सम्प्रापकं तत्क्षणात् ।।
दुष्प्रापं प्रकटीचकार करुणा-रागाति-सम्मोहनः
स श्रीवल्लभ-भानुरुल्लसति यः श्रीवल्लवीशान्तरः ।।३।।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य यशो[४]रूपगुणाः : पाण्डित्यं

निगमगतिः तदनुकूलक्रिया वैष्णवमार्गीयता श्रीव्रजपतिरतिः इत्येवमादयः)

क्वचित् पाण्डित्यं चेत् न निगमगतिः सापि यदि न
क्रिया सा सापि स्यात् यदि न हरिमार्गे परिचयः ।।
यदि स्यात् सोपि श्रीव्रजपति-रतिर् नेति निखिलैः
गुणैरन्यः को वा विलसति विना वल्लभवरम् ।।४।।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य श्री[५]रूपो गुणः : श्रीकृष्णसेवाप्रतिव-न्धकवादनिराकरणेन प्रमाणचतुष्टयैकवाक्यतामूलकसिद्धान्तोपदेशकत्वे सति श्रीकृ-ष्णसेवापरायणत्वे सति भगवत्सेवोचितनिरुपधिस्नेहोद्बोधकत्वं च)

मायावादि– करीन्द्र– दर्प– दलनेनास्येन्दु– राजोद्गत–
श्रीमद्- भागवताख्य- दुर्लभ- सुधा- वर्षेण वेदोक्तिभिः ।।
राधावल्लभ - सेवया तदुचित - प्रेम्णोपदेशैरपि
'श्रीमद्वल्लभ'-नामधेय-सदृशो भावि न भूतोऽस्त्यपि ।।५।।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य ज्ञान[६]रूपो गुणः : कलिवलभीतिनि-राकर्तृत्वे सति भगवत्प्रीतिकरसेवामार्गप्रवर्तकत्वम्)

यदङ्घ्रि– नख– मण्डल– प्रसृत– वारि– पीयूष– युग्–
वराङ्ग-हृदयैः कलिस् तृणमिवेह तुच्छीकृतः ।।
व्रजाधिपतिरिन्दिरा – प्रभृति – मृग्य – पादाम्बुजः
क्षणेन परितोषितः तदनुगत्वमेवास्तु मे ।।६।।

(पुष्टिसम्प्रदाये गुरुरूपस्य श्रीवल्लभस्य वैराग्य[७]रूपो गुणः : स्वानुगामिनां

सकलकलिकालदोषनिवर्तनेतरविषयेषु विरतत्वम्)

अघौघ-तमसावृतं कलि-भुजङ्गमासादितम्
जगद्-विषय-सागरे पतितमस्वधर्मे रतम्॥
यदीक्षण–सुधा–निधि–समुदितोऽनुकम्पामृताद्
अमृत्युम् अकरोत् क्षणादरणमस्तु मे तत्पदम्॥७॥

॥इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रं सम्पूर्णम्॥

॥नामरत्नाख्यस्तोत्रम्॥

(५)

(मङ्गलोपक्रमः)

यन्नामार्कोदयात् पाप-ध्वान्त-राशिः प्रशाम्यति॥
विकसन्ति हृदब्जानि तन्नामानि सदाश्रये॥१॥

(स्तोत्रर्षि-छन्दो-देव-विनियोग-फलनिरूपणम्)

आनुष्टुभमिह च्छन्दः ऋषिरग्निकुमारजः॥
सर्वशक्तिसमायुक्तो देवः श्रीवल्लभात्मजः॥२॥
विनियोगः समस्तेष्टसिद्ध्यर्थे विनिरूपितः॥

(श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणनाम् अष्टोत्तरशतनामानि)

श्रीविट्ठलः[१] कृपासिन्धुर्[२] भक्तवश्यो[३]ऽतिसुन्दरः[४]॥३॥

कृष्णलीलारसाविष्टः[५] श्रीमान्[६] वल्लभ-नन्दनः[७]॥
दुर्दृश्यो[८] भक्तसन्दृश्यो[९] भक्तिगम्यो[१०] भयापहः[११]॥४॥
अनन्यभक्तहृदयो[१२] दीनानाथैकसंश्रयः[१३]॥
राजीवलोचनो[१४] रासलीलारसमहोदधिः[१५]॥५॥
धर्मसेतुर्[१६] भक्तिसेतुः[१७] सुखसेव्यो[१८] व्रजेश्वरः[१९]॥
भक्तशोकापहः[२०] शान्तः[२१] सर्वज्ञः[२२] सर्वकामदः[२३]॥६॥
रुक्मिणीरमणः[२४] श्रीशो[२५] भक्तरत्नपरीक्षकः[२६]॥
भक्तरक्षैकदक्षः[२७] श्रीकृष्णभक्तिप्रवर्तकः[२८]॥७॥
महासुरतिरस्कर्ता[२९] सर्वशास्त्रविदग्रणीः[३०]॥
कर्मजाड्यभिदुष्णांशुः[३१] भक्तनेत्रसुधाकरः[३२]॥८॥
महालक्ष्मी-गर्भरत्नं[३३] कृष्ण-वर्त्म-समुद्भवः[३४]॥
भक्त-चिन्ता-मणिः[३५] भक्तिकल्पद्रुम-नवाङ्कुरः[३६]॥९॥
श्रीगोकुल-कृतावासः[३७] कालिन्दी-पुलिन-प्रियः[३८]॥
गोवर्धनागमरतः[३९] प्रियवृन्दावनाचलः[४०]॥१०॥
गोवर्धनाद्रि-मखकृन्[४१] महेन्द्र-मद-भित्-प्रियः[४२]॥
कृष्णलीलैक-सर्वस्वः[४३] श्रीभागवत-भाववित्[४४]॥११॥
पितृ–प्रवर्तित–पथ–प्रचार–सुविचारकः[४५]॥
व्रजेश्वर-प्रीति-कर्ता[४६] तन्निमन्त्रण-भोजकः[४७]॥१२॥
बाल-लीलादि-सुप्रीतो[४८] गोपी-सम्बन्धि-सत्कथः[४९]॥
अति-गम्भीर-तात्पर्यः[५०] कथनीय-गुणाकरः[५१]॥१३॥
पितृ-वंशोदधि-विधुः[५२] स्वानुरूप-सुतप्रसूः[५३]॥

दिक्चक्रवर्तिसत्कीर्तिर्[५४] महोज्ज्वल-चरित्रवान्[५५] ॥१४॥
अनेक – क्षितिप – श्रेणी—मूर्धासक्त – पदाम्बुजः[५६] ॥
विप्र-दारिद्र्य-दावाग्निः[५७] भूदेवाग्नि-प्रपूजकः[५८] ॥१५॥
गो - ब्राह्मण - प्राण - रक्षा - परः[५९] सत्य - परायणः[६०] ॥
प्रिय-श्रुति-पथः[६१] शश्वन् महा-मखकरः[६२] प्रभुः[६३] ॥१६॥
कृष्णानुग्रह - संलभ्यो[६४] महा - पतित - पावनः[६५] ॥
अनेक-मार्ग-संक्लिष्ट-जीव-स्वास्थ्य-प्रदो महान्[६६] ॥१७॥
नाना – भ्रम – निराकर्ता[६७] भक्ताज्ञानभिदुत्तमः[६८] ॥
महा-पुरुष-सत्ख्यातिर्[६९] महा-पुरुष-विग्रहः[७०] ॥१८॥
दर्शनीयतमो[७१] वाग्मी[७२] मायावाद-निरास-कृत्[७३] ॥
सदा प्रसन्न-वदनो[७४] मुग्ध-स्मित-मुखाम्बुजः[७५] ॥१९॥
प्रेमार्द्रदृग्-विशालाक्षः[७६] क्षितिमण्डलमण्डनः[७७] ॥
त्रिजगद्-व्यापि-सत्कीर्ति-धवलीकृत-मेचकः[७८] ॥२०॥
वाक्सुधाकृष्ट-भक्तान्तः-करणः[७९] शत्रु-तापनः[८०] ॥
भक्त-संप्रार्थित-करो[८१] दासदासीप्सितप्रदः[८२] ॥२१॥
अचिन्त्य-महिमा-मेयो[८३] विस्मयास्पद-विग्रहः[८४] ॥
भक्त-क्लेशासहः[८५] सर्वसहो[८६] भक्तकृते वशः[८७] ॥२२॥
आचार्य – रत्नं[८८] सर्वानुग्रहकृन् – मन्त्रवित्तमः[८९] ॥
सर्वस्वदानकुशलो[९०] गीतसंगीतसागरः[९१] ॥२३॥
गोवर्धनाचलसखो[९२] गोपगोगोपिकाप्रियः[९३] ॥
चिन्तितज्ञो[९४] महाबुद्धिर्[९५] जगद्-वन्द्य-पदाम्बुजः[९६] ॥२४॥

जगदाश्चर्यरसकृत्[९७] सदा कृष्ण-कथा-प्रियः[९८] ॥
सुखोदर्ककृतिः[९९] सर्वसन्देह - च्छेददक्षिणः[१००] ॥२५॥
स्वपक्षरक्षणे दक्षः[१०१] प्रतिपक्ष-क्षयंकरः[१०२] ॥
गोपिका-विरहाविष्टः[१०३] कृष्णात्मा[१०४] स्वसमर्पकः[१०५] ॥२६॥
निवेदिभक्तसर्वस्वः[१०६] शरणाध्वप्रदर्शकः[१०७] ॥
श्रीकृष्णानुगृहीतैक – प्रार्थनीयपदाम्बुजः[१०८] ॥२७॥

(स्तोत्रपाठफलम्)

इमानि नामरत्नानि श्रीविट्ठल-पदाम्बुजम् ॥
ध्यात्वा तदेकशरणो यः पठेत् स हरिं लभेत् ॥२८॥
यद्-यन्-मनस्यभिध्यायेत् तत्तदाप्नोत्यसंशयम् ॥
नामरत्नाभिधमिदं स्तोत्रं यः प्रपठेत् सुधीः ॥२९॥
तदीयत्वं गृहाणाशु प्रार्थ्यमेतन् मम प्रभो ॥
श्री विट्ठल – पदाम्भोज – मकरन्द – जुषोऽनिशम् ॥
इयं श्रीरघुनाथस्य कृतिर्विजयतेतराम् ॥३०॥

॥इति श्रीरघुनाथविरचितं नामरत्नाख्यस्तोत्रं सम्पूर्णम्॥

॥ श्रीयमुनाष्टकम् ॥

(६)

(श्रीयमुनायाः पुष्टिमार्गीय-सकलसिद्धि-हेतुत्व-रूपैश्वर्य-वर्णनम्)

नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा

मुरारि–पद–पङ्कज–स्फुरदमन्द–रेणूत्कटाम् ।।
तटस्थ–नवकानन–प्रकट–मोद–पुष्पाम्बुना
सुरासुर-सुपूजित-स्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम् ।।१।।

(श्रीयमुनायाः भगवद्रति-वर्द्धकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्)

कलिन्द-गिरि-मस्तके पतदमन्द-पूरोज्ज्वला
विलास–गमनोल्लसत्–प्रकट–गण्ड–शैलोन्नता ।।
सघोष-गति-दन्तुरा समधिरूढ-दोलोत्तमा
मुकुन्द-रति-वर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता ।।२।।

(प्रभुसम्वन्ध-प्रतिवन्ध-निवर्तनेन तदनुभवार्हशुद्धिरूप-भुवनपावनीत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्)

भुवं भुवन-पावनीमधिगतामनेक-स्वनैः
प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः ।।
तरङ्ग-भुज-कङ्कण-प्रकट-मुक्तिका-वालुका-
नितम्ब-तट-सुन्दरीं नमत कृष्ण-तुर्य-प्रियाम् ।।३।।

(भगवत्-समानगुणधर्मवत्त्वेन भगवत्सम्वन्ध-सम्पादकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्)

अनन्त-गुण-भूषिते शिव-विरञ्चि-देव-स्तुते
घनाघन-निभे सदा ध्रुवपराशराभिष्टदे ।।
विशुद्ध-मथुरा-तटे सकल-गोप-गोपी-वृते

कृपा-जलधि-संश्रिते मम मनः सुखं भावय ।।४।।

(भगवत्प्रिय-कलि-निवारकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्)

यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका
समागमनतोऽभवत् सकल-सिद्धिदा सेवताम् ।।
तया सदृशतामियात् कमलजा-सपत्नीव यद्
हरिप्रिय-कलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम् ।।५।।

(भगवत्प्रियत्व-सम्पादकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्)

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यम-यातना भवति ते पयःपानतः ।।
यमोऽपि भगिनी-सुतान् कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात् तव हरेर्यथा गोपिकाः ।।६।।

(तनुनवत्व-सम्पादकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्)

ममास्तु तव सन्निधौ तनु-नवत्वमेतावता
न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये ।।
अतोऽस्तु तव लालना सुर-धुनी परं सङ्गमात्
तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः ।।७।।

(लीलासामयिक-प्रभु-श्रमजलकण-सम्वन्ध-सम्पादकत्व-रूपैश्वर्यवर्णनम्)

स्तुतिं तव करोति कः कमलजा-सपत्नि ! प्रिये !

हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः ।।
इयं तव कथाधिका सकल-गोपिका-सङ्गम-
स्मरश्रम-जलाणुभिः सकल-गात्रजैः सङ्गमः ।।८।।

(एतत्पाठेन सर्वपापक्षयः सकलसिद्धयो मुकुन्दरतिः तत्सन्तोषः स्वभावविजयश्चेति फलानां सिद्धिः)

तवाष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते! सदा
समस्त-दुरित-क्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः ।।
तया सकल-सिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति
स्वभाव-विजयो भवेद् वदति वल्लभः श्रीहरेः ।।९।।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।।

।। बालबोधः ।।

(७)

(धर्मार्थकाममोक्ष-रूप-पुरुषार्थ-चतुष्टय-विषयक-सिद्धान्तसंग्रहः)

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसंग्रहम् ।।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ।।१।।

(लौकिकत्वालौकिकत्वभेदभिन्नेषु पुरुषार्थचतुष्टयेषु धर्मार्थकामविचारस्य प्रकृतोपदेशानुपयोगित्वम्)

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश् चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।।

जीवेश्वर-विचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ।।२।।
अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास् तथैवेश्वर-शिक्षया ।।३।।
लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या यतः स्थिताः ।।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ।।४।।
त्रिवर्ग-साधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।।

(स्वतःपरतोभेदभिन्ने मोक्षे आद्यस्य बाह्याभ्यन्तरत्यागहेतुकद्वैविध्यम्)

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ।।५।।
द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्य-योगौ प्रकीर्तितौ ।।
त्यागात्याग-विभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ।।६।।
अहन्ता-ममता-नाशे सर्वथा निरहंकृतौ ।।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ।।७।।
तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।।
ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ।।८।।
अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।।
यमादयस्तु कर्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ।।९।।

(परतोमोक्षे तत्तदाश्रय-तत्तदीयत्वाभ्यां शिवविष्ण्वोः मोचकत्वम्)

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस् तद्रूपेण सुसेव्यते ।।१०।।

ते सर्वार्था न चाद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ॥
अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥११॥
वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्तकौ ॥
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥१२॥
निर्दोष-पूर्ण-गुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ॥
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥१३॥
भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ॥
लोकेऽपि यत् प्रभुर्भुंक्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥१४॥
अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ॥
नियतार्थ-प्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥१५॥
प्रत्येकं साधनं चैतत् द्वितीयार्थे महान् श्रमः ॥

(स्वाभाविकदोषनिवृत्त्यर्थं तत्तदाश्रय-तत्तदीयत्वबुद्ध्या स्वधर्माचरणस्य आवश्यकता)

जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥१६॥
श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिध्यति ॥
मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर् भोगश्च शिवतस्तथा ॥१७॥
समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम् ॥
अतदीयतया चापि केवलश्चेत् समाश्रितः ॥१८॥
तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित् समाचरेत् ॥
स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यम् अन्यथा ॥

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥१९॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं बालबोधः सम्पूर्णः ॥

॥ सिद्धान्तमुक्तावली ॥

(८)

(स्वसिद्धान्तविनिश्चयोपदेशः)

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ॥

(श्रीकृष्णसेवायाः फलावस्थालक्षणं[१] स्वरूपलक्षणं[२] साधनावस्थालक्षणं[३] अवान्तरफललक्षणं[४] च)

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता[१] ॥१॥
चेतस्तत्प्रवणं सेवा[२] तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा[३] ॥
ततः संसार-दुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म-बोधनम्[४] ॥२॥

(पुष्टिमार्गीयसेवायां सेव्यस्य ब्रह्मणः पराक्षर[क-ख]रूपद्वैविध्यम्)

परं ब्रह्मतु कृष्णो[क] हि सच्चिदानन्दकं बृहत्[ख] ॥
द्विरूपं तद्धि[ख] सर्वं स्याद्[ख/१], एकं, तस्माद् विलक्षणम्[ख/२] ॥३॥

(सच्चिदानन्दकबृहद्[ख/१]विषये बहुविधवैमत्यपरिगणना तत्र श्रौतमतनिष्कर्षः च)

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ॥

मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥४॥
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ॥

(भक्त्या द्रष्टव्यं परं, श्रुत्यादिविहितश्रवणाद्युपायैः ज्ञेयं बृहद्, भजनौपयिकाखिलसामग्री च ब्रह्मात्मिकैव इति गङ्गादृष्टान्तेन उपपत्तिः)

द्विरूपं चापि गङ्गावज् ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥५॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ॥
मर्यादामार्ग-विधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥६॥
तत्रैव देवता-मूर्तिः भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ॥
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥७॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात् तया जले ॥
विहिताच्च फलात् तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥८॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ॥
यथा देवी तथा कृष्णः............... ॥

(लौकिकं जगत् त्रिविधमिति लौकिकव्यवहारनियामकाः देवताः तिस्रः, स्वमार्गीया भक्तिर्हि श्रीकृष्णे अनन्यासक्तिरूपेति तन्नियामकोऽपि श्रीकृष्णः एकएव)

.............................तत्राप्येतदिहोच्यते ॥९॥
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्म-विष्णु-शिवास्ततः ॥
देवता-रूप-वत्-प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥१०॥

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा ॥
परमानन्द-रूपेतु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥११॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ॥

(सेवाकर्तुः जीवात्मनः स्वस्वरूपज्ञानं परब्रह्ममाहात्म्यज्ञानं श्रीकृष्णानन्यरतिः तदनुकूलक्रियाः चेति चतुष्टयसाहित्ये उत्तमाधिकारित्वं[१] एतेषु अन्यतमराहित्ये मध्यमाधिकारित्वं केवलक्रियाकारित्वे वा कनिष्ठाधिकारित्वं[२/३] लोकार्थितया भगवत्सेवने हीनाधिकारित्वम्[४] इति अधिकारिचातुर्विध्यम्)

आत्मनि ब्रह्मरूपेतु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥१२॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ॥
गङ्गातीरस्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति ॥१३॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी[१] प्रपश्यति ॥
संसारी[२/३] यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥१४॥
अपेक्षितजलादीनाम् अभावात् तत्र दुःखभाक् ॥
तस्माच् छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥१५॥
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ॥
लोकार्थी[४] चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥१६॥
क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ॥

(उत्तमाधिकाराभावे भगवत्सेवानुष्ठानप्रकारस्थलयोः उपदेशः)

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु ॥१७॥

मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः ।।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ।।१८।।
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्गः एवं तस्मात् निरूपितः ।।१९।।

(भक्त्यभावेऽन्यथाभावमापन्नस्य भगवत्सेवा व्यर्था)

भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।।
अन्यथाभावमापन्नः तस्मात् स्थानात् च नश्यति ।।२०।।

(भगवत्सेवोपदेशोपसंहारः)

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।।
एतद् बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्व-संशयात् ।।२१।।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ।।

।। पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ।।

(९)

(पुष्टि[क]प्रवाह[ख]मर्यादानां[ग] मार्ग[१]सर्ग[२]फल[३]-पार्थक्यनिरूपणम्)

पुष्टि[क/१]प्रवाह[ख/१]मर्यादा[ग/१] विशेषेण पृथक्-पृथक् ।।
जीव[२/य]देह[२/र]क्रिया[२/ल]भेदैः प्रवाहेण[२] फलेन[३] च ।।१।।
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।।

(मार्गत्रयभेदसाधकप्रमाणसङ्कलनम्)

भक्तिमार्गस्य कथनात्[क/१] पुष्टिरस्तीति निश्चयः ।।२।।
''द्वौ भूतसर्गावि''त्युक्तेः[ख/१] प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः ।।
वेदस्य विद्यमानत्वात्[ग/१] मर्यादापि व्यवस्थिता ।।३।।

(पुष्टिमार्ग[क/१]पार्थक्यस्य विशेषेण प्रमाणोपपत्तिः)

''कश्चिदेव हि भक्तो हि'' ''यो मद्भक्त'' इतीरणात् ।।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ।।४।।
न सर्वोऽतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।।
''यदा यस्ये''ति वचनात् ''नाहं वेदैः''इतीरणात् ।।५।।
मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ ।।
न तद् युक्तं सूत्रतोहि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ।।६।।
जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यताश्रुतेः ।।
यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ।।७।।
प्रमाणभेदाद् भिन्नोहि पुष्टिमार्गो निरूपितः ।।

(सर्ग[२]भेदकारकहेतूनां सङ्कलनम्)

सर्गभेदं[२] प्रवक्ष्यामि स्वरूपा[य]ऽङ्ग[र]क्रिया[ल]युतम् ।।८।।
इच्छामात्रेण[ख/२] मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ।।
वचसा[ग/२] वेदमार्गंहि पुष्टिं कायेन[क/२] निश्चयः ।।९।।

(मार्गत्रये फलभेदकारकहेतूनां सङ्कलनम्)

मूलेच्छातः[ख/३] फलं लोके, वेदोक्तं[ग/३] वैदिकेपि च ॥
कायेन[क/३]तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा ॥१०॥

(जीवानां त्रिविधः सर्गः[कखग/२])

''तानहं द्विषतो''वाक्याद् भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः ॥
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥११॥

(तत्र पुष्टिमार्गसर्गे विशेषेण जीव[२/य]देह[२/र]क्रिया[२/ल]णाम् उपभेदाः)

तस्माज् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयः ॥
भगवद्-रूप-सेवार्थं तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्[क/२/य] ॥१२॥
स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ॥
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥१३॥
तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि[क/२/र] ॥
तेहि द्विधा शुद्ध-मिश्र-भेदान् मिश्रास्त्रिधा पुनः ॥१४॥
प्र वा हा दि - वि भे दे न भ ग व त्का र्य - सि द्ध ये ॥
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥१५॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः[क/२/ल] ॥
एवं सर्गस्तु तेषां हि.................॥

(पुष्टिमार्गे[क/३] विशेषेण फलनिरूपणम्)

.... फलं त्वत्र निरूप्यते ॥१६॥

भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि ॥
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥१७॥
आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ॥
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्ग-स्थापनायहि ॥१८॥
न ते पाषण्डतां यान्ति नच रोगाद्युपद्रवः ॥
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्व-हेतवे ॥१९॥
भगवत्-तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ॥
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा ॥२०॥
वैष्णवत्वंहि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ॥

(पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-मार्गेषु कर्मणां गहनया गत्या परिभ्रमन्तः एकस्मिन् मार्गे समागताः अतन्मार्गीयत्वेऽपि तन्मार्गीयत्वाभासं प्रकटयन्तः चर्षण्यो जीवाः)

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथा परे ॥२१॥
'चर्षणी' शब्द वाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ॥
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥२२॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ॥

(प्रवाहमार्गे जीवा[ख/२/य]नां भेदः)

प्रवाहस्थान्[ख] प्रवक्ष्यामि स्वरूपा[ख/२/य]ऽङ्ग[ख/२/र]क्रिया[ख/२/ल]युतान् ॥२३॥
जीवास्[ख/२/य]ते ह्यासुराः सर्वे ''प्रवृत्तिञ्चे''ति वर्णिताः ॥
तेच द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञ-दुर्ज्ञ-विभेदतः ॥२४॥

दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः ।।
प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ।।२५।।
सोऽपि तैस् तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ।।
....।।

[इतो ग्रन्थस्य 'ख'भागे '२/र+ल'अंशयोः '३' अंशस्य च; तथैव 'ग'भागे '२/य-र-ल'+'३' अंशानामपि त्रुटिः]

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितः पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः सम्पूर्णः ।।

।। सिद्धान्तरहस्यम् ।।

(१०)

(नैकविधदोषग्रस्तेन हि जीवेन दोषाशंकालेशरहितो भगवान् कथं सेवनीयो भवेदिति चिन्तानिवारणार्थं भगवता प्रादुर्भूय समर्पणपूर्वकसेवायां दोषाणां स्वसेवाऽबाधकताबोधनम्)

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।।
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ।।१।।

(स्वात्मात्मीयानां परमात्मने समर्पणं ब्रह्मसम्बन्धेन भवति, तेन च पञ्च[१-५]विधदोषाणां भगवत्सेवायाम् अबाधकता)

ब्रह्म-सम्बन्ध-करणात् सर्वेषां देह-जीवयोः ।।
सर्व-दोष-निवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ।।२।।

सहजा[१] देशकालोत्थाः[२-३] लोकवेदनिरूपिताः ।।
संयोगजाः[४] स्पर्शजा[५]श्च न मन्तव्याः कथञ्चन ।।३।।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।।

(कृतात्मनिवेदनस्य असमर्पितवस्तुत्यागः[१] समर्पितस्यैवोपभोगः[२] सामिभुक्तस्यासमर्पणम्[३] इति त्रयो नियमाः)

असमर्पित-वस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्[१] ।।४।।
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः[२] ।।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्त-समर्पणम् ।।५।।
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्[३] ।।

(लोके दासस्य स्वस्वीययोः यथा स्वस्वामिने समर्पणमेव नतु दानं तथा जीवस्य भगवते समर्पणं नतु दानमिति न दत्तापहारदोषाशंका)

दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ।।६।।
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ।।७।।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।।

(निखिलस्वात्मात्मीयानां भगवत्समर्पणेन सेवायां विनियोगौपयिकशुद्धिः भवत्येव)

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ।।८।।
गङ्गात्वे न निरूप्या स्यात् तद्वदत्रापि चैव हि ।।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं श्रीसिद्धान्तरहस्यं सम्पूर्णम् ।।

॥ नवरत्नम् ॥

(११)

(आत्मनिवेदनस्वरूपस्य चिन्तनेन लौकिक्याः अलौकिक्याः वा, सेवोपयोगिवस्तुविषयिण्याः तदनुपयोगिवस्तुविषयिण्याः वा, क्रियमाणायाः सर्वविधचिन्तायाः अकर्तव्यत्वस्य उपदेशः)

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ॥
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीञ्च गतिम् ॥१॥
निवेदनन्तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ॥
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥२॥

(निवेदितात्मना निवेदितेषु अनिवेदितेषु वा स्वस्य स्वकीयानां वा विनियोगेपि भक्त्यर्थं क्रियमाणा चिन्ता आत्मनिवेदनस्वरूपविचारेण निवर्तनीया)

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ॥
अतोन्यविनियोगेपि चिन्ता का स्वस्य सोपि चेत् ॥३॥
अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ॥
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः तेषां का परिदेवना ॥४॥

(आत्मनिवेदनाविश्वासाद् वा निवेदितस्य भगवत्सेवायामविनियोगाद् वा क्रियमाणापि चिन्ता श्रीपुरुषोत्तमस्वरूपचिन्तनेन निवर्तनीया)

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ॥
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थोहि हरिः स्वतः ॥५॥

(निवेदितात्मना स्वस्य स्वकीयानां वा लौकिके वैदिकेऽपि वा व्यवहारे स्वास्थ्याभावविषयिणी या क्रियमाणा चिन्ता सापि स्वसाक्षिभावचिन्तनेन निवर्तनीया)

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ॥
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥६॥

(गुरुभगवतोरन्यतरस्य आज्ञाभंगभयेन क्रियमाणा स्वसेव्यप्रभुविषयिणी चिन्ता भगवत्सेवायाः तात्पर्यविवेकेन निवर्तनीया)

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ॥
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥७॥

(भगवल्लीलाभावनया भगवच्छरणागत्या वा यथोपदिष्टनिर्वाहसामर्थ्यासामर्थ्ययोः स्वतोजायमानापि चिन्ता निवर्तनीया)

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति ॥
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥८॥
तस्मात् सर्वात्मना नित्यं "श्रीकृष्णः शरणं मम" ॥
वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥९॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं नवरत्नं सम्पूर्णम् ॥

॥ अन्तःकरणप्रबोधः ॥

(१२)

(भगवदाज्ञानुसरणाय अन्तःकरणप्रबोधनम्)

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ॥
कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥१॥

(स्वमनोरथप्रतिकूलायां भगवदाज्ञायां सत्यामपि पश्चात्तापस्य अकर्तव्यतोपदेशः)

चाण्डाली चेद् राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ॥
कदाचिदपमानेऽपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥२॥
समर्पणादहं पूर्वम् उत्तमः किं सदा स्थितः ॥
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥३॥

(भगवदाज्ञायाएव अनुसरणीयत्वे हेतुत्रयम्)

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुः नान्यथातु करिष्यति[१] ॥
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत्[२] ॥४॥
सेवकस्यतु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति[३] ॥

(प्रागननुष्ठिते द्वे भगवदाज्ञे)

आज्ञा पूर्वन्तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥५॥
यापि पश्चात् मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ॥

(लोकगोचरदेहदेशपरित्यागविषयिण्याः तृतीयायाः आज्ञायाः अवश्यानुष्ठेयत्वेऽपि षण्णां पश्चात्तापाभावहेतूनां परिगणनम्)

देहदेशपरित्यागः तृतीयो लोकगोचरः ॥६॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा[१] ॥
लौकिकप्रभुवत् कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन[२] ॥७॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि[३] सुखी भव ॥
प्रौढापि दुहिता यद्वत् स्नेहात् न प्रेष्यते वरे ॥८॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा[४] ॥
लोकवच्चेत् स्थितिर्मे स्यात् किं स्यादिति विचारय[५] ॥९॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन[६] ॥

(एवं स्वान्तःकरणप्रबोधनप्रकटनेन स्वीयानां चिन्तादूरीकरणम्)

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥१०॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो अन्तःकरणप्रबोधः सम्पूर्णः ॥

॥ विवेकधैर्याश्रयः ॥

(१३)

(विवेक[क]धैर्या[ख]श्रय[ग]रक्षणावश्यकता)

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ॥

(विवेकस्वरूप[क]लक्षणं तदुपलब्ध्यै च अप्रार्थनम्[१] अनभिमानः[२] हठाभावो[३] अनाग्रहः[४] चेति उपायचतुष्टयम्)

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति[क] ॥१॥
प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्राय-संशयात् ॥
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च[१] ॥२॥
अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्व-भावनात्[२] ॥
विशेषतश्चेदाज्ञा स्याद् अन्तःकरणगोचरः ॥३॥
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात् ॥
आपद्-गत्यादि-कार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा[३] ॥४॥
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्र-दर्शनम्[४] ॥
विवेकोऽयं समाख्यातो................................॥

(धैर्यस्वरूप[ख]लक्षणं तदुपलब्ध्यै च अनाग्रहः[१] सहनं[२] त्यागः[३] असामर्थ्यभावना[४] चेति क्रमिकोपायचतुष्टयम्)

.... धैर्यन्तु विनिरूप्यते ॥५॥
त्रिदुःखसहनं धैर्यम् आमृतेः सर्वतः सदा[ख] ॥
तक्रवद्[१] देहवद्[२], भाव्यं, जडवद्[३] गोपभार्यवत्[४] ॥६॥
प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन् नाग्रही भवेत्[१] ॥
भार्यादीनां तथान्येषाम् असतश्चाक्रमं सहेत्[२] ॥७॥
स्वयमिन्द्रिय-कार्याणि काय-वाङ्-मनसा त्यजेत्[३] ॥
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्य-भावनात्[४] ॥८॥

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ॥
एतत् सहनमत्रोक्तम्..................................॥

(आश्रयस्वरूप[ग]लक्षणम्)

........................आश्रयोऽतो निरूप्यते ॥९॥
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः[ग] ॥

(सर्वास्वप्यवस्थासु भगवदाश्रयस्य अनुष्ठेयत्वम्)

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ॥
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥११॥
अहङ्कार-कृते चैव पोष्य-पोषण-रक्षणे ॥
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥१२॥
अलौकिक-मनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ॥

(भगवदाश्रयसिद्धयै क्रमिकोपाय[१-४]चतुष्टयम्)

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्[१] ॥१३॥
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च ॥
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथान्यत्र विवर्जयेत्[२] ॥१४॥
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ॥
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ[३] प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥१५॥

यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।।
किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्[४] ।।१६।।

(भगवदाश्रयावश्यकतोपपत्त्यन्तरेणोपसंहारः)

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।।
कलौ भक्त्यादिमार्गाहि दुःसाध्या इति मे मतिः ।।१७।।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं विवेकधैर्याश्रयनिरूपणं सम्पूर्णम् ।।

।। कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।।

(१४)

[लोकाश्रय[क]वेदाश्रय[ख]वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षण्णां धर्माङ्गानां काल[१]देश[२]द्रव्य[३]कर्तृ[४]मन्त्र[५]कर्मणाम्[६] सम्प्रति असाधकता कर्म[य]ज्ञान[र]भक्ति[ल]प्रपत्ति[व]मार्गानुसारेणापि श्रीकृष्णाश्रयस्यैव कर्तव्यतानिरूपणम्]

(लोकाश्रय[क] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु काल[१]स्य सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ[१] च खलधर्मिणि ।।
पाषण्डप्रचुरे लोके[क] कृष्णएव गतिर्मम ।।१।।

(लोकाश्रय[क] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु देश[२]स्य सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु[२] पापैक-निलयेषु च ।।
सत्पीडा-व्यग्र-लोकेषु[क] कृष्णएव गतिर्मम ।।२।।

(लोकाश्रय[क] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु द्रव्य[३]स्य सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

गङ्गादि-तीर्थ[३]-वर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह[क] ।।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्णएव गतिर्मम ।।३।।

(वेदाश्रय[ख] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु कर्तुः[४] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु[ख] पापानुवर्तिषु ।।
लाभ-पूजार्थ-यत्नेषु[४] कृष्णएव गतिर्मम ।।४।।

(वेदाश्रय[ख] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु मन्त्रस्य[५] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

अपरिज्ञान-नष्टेषु मन्त्रे[५]ष्वव्रतयोगिषु ।।
तिरोहितार्थदेवेषु[ख] कृष्णएव गतिर्मम ।।५।।

(वेदाश्रय[ख] वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्माङ्गेषु कर्मणः[६] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

नाना-वाद-विनष्टेषु सर्व-कर्म[६]-व्रतादिषु[ख] ।।

पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्णएव गतिर्मम ॥६॥

(कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय कर्ममार्ग[व]दृष्ट्यापि तदावश्यकता-निरूपणम्)

अजामिलादिदोषाणां नाशको[य]ऽनुभवे स्थितः ॥
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः[ग] कृष्णएव गतिर्मम ॥७॥

(कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय ज्ञानोपासनमार्ग[ग]दृष्ट्यापि तदावश्यक-तानिरूपणम्)

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत्[र] ॥
पूर्णानन्दो हरिस्[ग] तस्मात् कृष्णएव गतिर्मम ॥८॥

(कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय भक्तिमार्ग[ल]दृष्ट्यापि तदावश्यकता-निरूपणम्)

विवेकधैर्यभक्त्यादि[ल]-रहितस्य विशेषतः ॥
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण[ग]एव गतिर्मम ॥९॥

(कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय प्रपत्तिमार्ग[व]दृष्ट्यापि तदावश्यकतानि-रूपणम्)

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ॥
शरणस्थ[व]समुद्धारं कृष्णं[ग] विज्ञापयाम्यहम् ॥१०॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ॥
तस्याश्रयो[व] भवेत् कृष्ण[ग] इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥११॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

॥ चतुःश्लोकी ॥

(१५)

(पुष्टिभक्तिमार्गीयधर्मपुरुषार्थस्वरूपनिरूपणम्)

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ॥
स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्यः क्वापि कदाचन ॥१॥

(पुष्टिभक्तिमार्गीयार्थपुरुषार्थस्वरूपनिरूपणम्)

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ॥
प्रभुः सर्वसमर्थोहि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥२॥

(पुष्टिभक्तिमार्गीयकामपुरुषार्थस्वरूपनिरूपणम्)

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ॥
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैः वैदिकैरपि ॥३॥

(पुष्टिभक्तिमार्गीयमोक्षपुरुषार्थस्वरूपनिरूपणम्)

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ॥

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥४॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णा ॥

॥ भक्तिवर्धिनी ॥

(१६)

(दृढवीजभावानाम्[क] पुष्टिजीवानां कृते भक्तेः फलात्मकप्रवृद्ध्युपायाः)

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते ॥
बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागात् श्रवणकीर्तनात्[क] ॥१॥

(अदृढवीजभावानाम् अव्यावृत्तानाम्[ख/१] व्यावृत्तानां[ख/२] पुष्टिजीवानां कृते भक्तेः फलात्मकप्रवृद्ध्युपायाः)

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ॥
अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः[ख/१] ॥२॥
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा[ख/२] ॥

(अदृढवीजस्य व्यावृत्तस्य जीवस्य प्रेमासक्तिव्यसनसोपानक्रमेण बीजभावदृढतायां रागविनाशादिना कृतार्थता च)

ततः प्रेम तथासक्तिः व्यसनं च यदा भवेत् ॥३॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ॥
स्नेहाद् रागविनाशः स्याद् आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः ॥४॥
गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते ॥
यदा स्यात् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि ॥५॥

(भगवति जातव्यसनस्यापि व्यावृत्तस्य सर्वदा गृहएव निवासः भक्तिभाववाधको भवतीति गृहत्यागप्रशंसा)

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ॥
त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥६॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ॥

(गृहत्यागानुकल्पो = भगवत्सेवाकथापरैः भगवदीयैः सह निवासः तत्प्रकारश्च)

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात् तथान्नतः ॥७॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ॥
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥८॥

(स्वगृहे स्वकीयस्य वा गृहेऽपि सेवाकथापरायणस्य कदापि नाशो न भवतीति सिद्धान्तसंक्षेपः)

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ॥
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥९॥

(भक्तिभावस्य बाधसम्भावनायाम् एकान्ते वासो न इष्टः)

बाधसम्भावनायान्तु नैकान्ते वास इष्यते ॥
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥१०॥

(ग्रन्थोपसंहारः एतद्ग्रन्थपाठफलञ्च)

इत्येवं भगवत् शास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ॥
य एतत् समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥११॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता भक्तिवर्धिनी सम्पूर्णा ॥

॥ जलभेदः ॥

(१७)

(''कूप्याभ्यः स्वाहा... सर्वाभ्यः स्वाहा'' इति श्रुति(तैत्ति.संहि.७।४।१-२)वचने निरूपिताः भगवत्कथाप्रवक्तृणां अप्रकीर्णभावाः[१-१९] विप्रकीर्णभावाः[२०] चेति भेदाभ्यां विंशतिविधजलभेदसदृशाः. तत्र अप्रकीर्णभावाः — विषयासक्तप्रवक्तृणां भावाः[क/१-५] मुमुक्षुप्रवक्तृणां भावाः[ख/६-१८] विमुक्तप्रवक्तृणां भावाः[ग/१९] इति उपभेदैः त्रिविधाः. तत्र विप्रकीर्णभावानाम्[२०] उपभेदाः अपरिगणिताः.)

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ॥
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्व-सन्देह-वारकान् ॥१॥
गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तोहि जले मताः ॥

(''कूप्याभ्यः स्वाहा''वचनोक्तजलसदृशः प्रथमो विषयासक्त-प्रवक्तुः अनिन्द्यो भावः)

गायकाः कूपसङ्काशा 'गन्धर्वा' इति विश्रुताः ॥२॥
कूपभेदास्तु यावन्तः तावन्तस्तेपि सम्मताः ॥

(''कूल्याभ्यः स्वाहा''वचनोक्तजलसदृशः द्वितीयो विषयासक्त-प्रवक्तुः अनिन्द्यो भावः)

'कुल्याः' पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥३॥

(''विकर्याभ्यः स्वाहा''वचनोक्तजलसदृशः तृतीयो विषयासक्त-प्रवक्तुः निन्द्यो भावः)

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ॥

(''अवट्याभ्यः स्वाहा''वचनोक्तजलसदृशः चतुर्थो विषयासक्त-प्रवक्तुः निन्द्यो भावः)

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका 'गर्त'संज्ञिताः ॥४॥

(''खन्याभ्यः स्वाहा''वचनोक्तजलसदृशः पञ्चमो विषयासक्त-प्रवक्तुः निन्द्यो भावः)

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ॥

(''ह्रद्याभ्यः स्वाहा''वचनोक्तजलसदृशः षष्ठः कर्ममार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

'ह्रदा' स्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवत्-शास्त्र-तत्पराः ॥५॥

(“सूद्याभ्यः स्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः सप्तमः कर्ममार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

सन्देह-वारकास्तत्र ‘सूदा’ गम्भीरमानसाः ।।

(“सरस्याभ्यः स्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः अष्टमः कर्ममार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

‘सरः-कमल-सम्पूर्णाः’ प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ।।६।।

(“वैशन्तीभ्यः स्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः नवमः कर्ममार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता ‘वेशन्ताः’ परिकीर्तिताः ।।

(“पल्वल्याभ्यः स्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः दशमः कर्ममार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

कर्मशुद्धाः ‘पल्वलानि’ तथाल्पश्रुत-भक्तयः ।।७।।

(“वर्ष्याभ्यःस्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः एकादशो ज्ञानमार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

योग-ध्यानादि-संयुक्ता गुणा ‘वर्ष्याः’ प्रकीर्तिताः ।।

(“स्वेदजाभ्यः स्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः द्वादशो ज्ञानमार्गीय-मुमुक्षु-

प्रवक्तुः भावः)

तपो-ज्ञानादि-भावेन ‘स्वेदजास्’तु प्रकीर्तिताः ।।८।।

(“ह्रादुनीभ्यः स्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः त्रयोदशो ज्ञानमार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।।
कादाचित्काः शब्दगम्याः ‘पतच्छब्दाः’ प्रकीर्तिताः ।।९।।

(“पृष्वाभ्यः स्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः चतुर्दशः उपासनामार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

देवाद्युपासनोद्भूताः ‘पृष्वा’ भूमेरिवोद्गताः ।।

(“स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः पञ्चदशः उपासनामार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ।।१०।।
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः ‘स्यन्दमानाः’ प्रकीर्तिताः ।।

(“स्थावराभ्यः स्वाहा”वचनोक्तजलसदृशः षोडशः उपासनामार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धि-क्षय-विवर्जिताः ।।११।।

'स्थावरास्' ते समाख्याता मर्यादैक-प्रतिष्ठिताः ॥

(''नादेयीभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः सप्तदशः उपासनामार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

अनेक-जन्म-संसिद्धा जन्म-प्रभृति सर्वदा ॥१२॥
सङ्गादि-गुण-दोषाभ्यां वृद्धि-क्षय-युता भुवि ॥
निरन्तरोद्गमयुता 'नद्यस्' ते परिकीर्तिताः ॥१३॥

(''सैन्धवीभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशो अष्टादशो भक्तिमार्गीय-मुमुक्षु-प्रवक्तुः भावः)

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् 'सिन्धवः' परिकीर्तिताः ॥

(''समुद्रीयाभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशः एकोनविंशतितमो विमुक्त-प्रवक्तृणां भावाः भगवतः लोकवेदप्रसिद्धाप्रसिद्धमिश्रगुणानां वर्णेन क्षारादिपञ्चसमुद्रजलशदृशाः पञ्चविधाः, विमुक्तेषु हि भगवतः सच्चिदानन्दात्मकाप्राकृतगुणवर्णनकर्तृणाम् अत्युत्तमानां प्रवक्तृणां अमृतोदधिजलसदृशो भावश्च)

पूर्णा भगवदीया ये शेष-व्यासाग्नि-मारुताः ॥१४॥
जड-नारद-मैत्राद्याः ते 'समुद्राः' प्रकीर्तिताः ॥
लोक-वेद-गुणैः मिश्र-भावेनैके हरेर्गुणान् ॥१५॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते 'क्षाराद्याः षट्' प्रकीर्तिताः ॥
गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥१६॥

सर्वानेव गुणान् विष्णोः वर्णयन्ति विचक्षणाः ॥
ते'ऽमृतोदाः' समाख्याताः तद्-वाक्-पानं सुदुर्लभम् ॥१७॥
तादृशानां क्वचिद् वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ॥

(अमृतोदधिसमानां भगवद्गुणप्रवक्तृणां कथायां कश्चन विशेषेण ज्ञातव्यो विषयः)

अजामिलाकर्णनवद् बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥१८॥
रागाज्ञाना-दिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ॥
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गम-कारणम् ॥१९॥

(''सर्वाभ्यः स्वाहा'' वचनोक्तजलसदृशो विंशतितमो[२०] विप्रकीर्णो भावः)

उद्धृतोदकवत् 'सर्वे' पतितोदकवत् तथा ॥
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥२०॥

(ग्रन्थोपसंहारः)

इति जीवेन्द्रियगता नाना-भावं-गता भुवि ॥
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥२१॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो जलभेदः सम्पूर्णः ॥

॥ पञ्चपद्यानि ॥

(१८)

[भक्ति[क]प्रपत्ति[ख]मार्गाधिकारभेदाभ्यां भगवत्कथाश्रोतृणां भेदद्वयम्. तत्र भक्तिमार्गे उत्तमाधिकारः मध्यमाधिकारः कनिष्ठाधिकारः इति त्रैविध्यम्]

(भक्तिमार्गे[क] उत्तमाधिकारिणः श्रोतुः स्वरूपम्)

श्रीकृष्णरसविक्षिप्त-मानसा रतिवर्जिताः ॥
अनिर्वृता लोकवेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः ॥१॥

(भक्तिमार्गे[क] मध्यमाधिकारिणः श्रोतुः स्वरूपम्)

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत् - स्मृति - विह्वलाः ॥
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥२॥

(भक्तिमार्गे[क] कनिष्ठाधिकारिणः श्रोतुः स्वरूपम्)

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ॥
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद् वा नचान्यथा ॥३॥
पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचित् न तु सर्वदा ॥
अन्यासक्तास्तु ये केचिद् अधमाः परिकीर्तिताः ॥४॥

(प्रपत्तिमार्गे[ख] उत्तमाधिकारिणः श्रोतुः स्वरूपम्)

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ॥

देश - काल - द्रव्य - कर्तृ — मन्त्र - कर्म - प्रकारतः ॥५॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितानि पञ्चपद्यानि ॥

॥ संन्यासनिर्णयः ॥

(१९)

(कर्म[श]भक्ति[प]ज्ञान[स]मार्गभेदैः संन्यासे त्रैविध्यम्. तत्र कर्ममार्गीयः संन्यासो द्विविधः — कर्मफलत्यागरूपः[श/१] चतुर्थाश्रमरूपः[श/२] च. भक्तिमार्गीयसंन्यासस्य द्वौ उपभेदौ : भक्त्यर्थसंन्यासः[प/१] भक्त्युत्तरसंन्यासः[प/२] च. तथैव ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यापि ज्ञानार्थसंन्यासः[स/१] ज्ञानोत्तरसंन्यासः[स/२] इति द्वौ उपभेदौ. एतेषु कतमः कर्तव्यः कतमश्च न कर्तव्यः इति विचारणा)

पश्चात्ताप-निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ॥
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥१॥

(तत्र वाह्यत्यागापेक्षाभावात् कर्मफलत्यागरूपस्य संन्यासस्य अविचारणीयत्वेन कर्ममार्गीयो द्वितीयः[श/२] संन्यासः कलिकाले सुशको नास्तीति विचारणा)

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ॥

(भक्तिमार्गीययोः संन्यासयोः भक्तिसाधकश्रवणादिनिर्वाहार्थं प्रथमप्रकारकस्संन्यासो[प/१] अनुष्ठेयो न भवति)

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद् विचारणा ॥२॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ॥
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥३॥
अभिमानात् नियोगात् च तद्-धर्मैश्च विरोधतः ॥

(भक्तिमार्गीययोः संन्यासयोः भक्तिबाधकगृहादित्यागार्थमपि प्रथमप्रकारकसंन्यासो[प/१] अनुष्ठेयो न भवति)

गृहादेः बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥४॥
अग्रेऽपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ॥
स्वयञ्च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥५॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ॥
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥६॥

(भक्तिमार्गीययोः संन्यासयोः विरहानुभवार्थं द्वितीयप्रकारकसंन्यासो[प/२] भक्तिभावदार्ढ्याय प्रशस्तो भवति. व्रजभक्तानामिव प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपे निरोधे सिद्धे बाह्यत्यागस्य आवश्यकतैव नास्ति, त्यागनिर्वाहकवैराग्यस्य उत्कृष्टभक्तिस्वभावसिद्धत्वादेवेति, तस्य कर्तव्यत्वाकर्तव्यत्वयोः निरूपणमपि अनावश्यकमेव)

विरहानुभवार्थन्तु परित्यागः प्रशस्यते ॥

(भक्तिमार्गीययोः संन्यासयोः भगवद्विरहानुभवार्थे द्वितीयप्रकारके संन्यासे वेश-गुरु-साधक-भावोद्बोधनोपाय-बाधकानाञ्च निरूपणम्)

स्वीय-बन्ध-निवृत्त्यर्थं वेशः सोऽत्र न चान्यथा ॥७॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत् ॥
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥८॥
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं नहि ॥
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥९॥

(पूर्वोक्तस्य संन्यासस्य फलावस्थायाः निरूपणम्)

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ॥
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥१०॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ॥
बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद् यदि ॥११॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति नचान्यथा ॥
गुणास्तु सङ्गराहित्याद् जीवनार्थं भवन्ति हि ॥१२॥
भगवान् फलरूपत्वात् नात्र बाधक इष्यते ॥
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥१३॥
दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥

(ज्ञानमार्गीयसंन्यासे ज्ञानार्थसंन्यासः[स/१] ज्ञानोत्तरसंन्यासः[स/२] इति प्रकारद्वैविध्ये प्रथमस्य अकर्तव्यत्वनिरूपणं द्वितीयस्य कलौ दुर्लभत्वमेवेति उपपादनम्)

ज्ञानमार्गेतु संन्यासो द्विविधोऽपि विचारितः ॥१४॥

ज्ञानार्थम् उत्तराङ्गं च सिद्धिः जन्मशतैः परम् ॥
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान् मतम् ॥१५॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ॥
पाषण्डित्वं भवेत् चापि तस्मात् ज्ञाने न संन्यसेत् ॥१६॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वाद् इति स्थितिः ॥

("कलिकालजदोषाः भक्तिमार्गीयसंन्यासे सम्भवन्ति न वे?"ति शङ्कासमाधाने)

भक्तिमार्गेऽपि चेद् दोषः तदा किं कार्यमुच्यते ॥१७॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ॥
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद् बाधः केनास्य सम्भवेत् ? ॥१८॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ! ॥
अन्यथा मातरो बालान् न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥१९॥
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ॥
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ? ॥२०॥
तस्मादुक्त-प्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ॥
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थाद् इति मे निश्चिता मतिः ॥२१॥

(ग्रन्थोपसंहारः)

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ॥

संन्यासवरणं भक्तौ अन्यथा पतितो भवेत् ॥२२॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितः संन्यासनिर्णयः सम्पूर्णः ॥

॥ निरोधलक्षणम् ॥
(२०)

(भक्तेः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपनिरोधावस्थापरिपाकार्थं भगवत्सेवाकथोभयपरायणैः पुष्टिभक्तैः सेवासमये गोकुलस्थितभगवतः संयोगभावना कार्या, सेवानवसरे कथाकाले भगवतः गोचारणकालिकवृन्दावनलीलानुसन्धानेन स्वहृदये वियोगभावना कार्या)

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ॥
गोपिकानान्तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥१॥
गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम् ॥
यत् सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥२॥

(गोकुलवृन्दावनस्थितयोः व्रजभक्तयोः यथायथं स्वस्वनिकटे समागतेन भगवत्प्रेषितेन उद्धवेन सह भगवद्वार्तामहोत्सवेनेव भगवत्सेवां कर्तुम् असमर्थानां भगवत्कथापरायणानां भगवद्गुणगानेनापि भक्तिः उक्तां निरोधावस्थां प्राप्तुं शक्नोतीति तन्माहात्म्यनिरूपणम्)

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ॥
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥३॥

महतां कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति ।।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ।।४।।
महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ।।५।।
गुणगाने सुखावाप्तिः गोविन्दस्य प्रजायते ।।
यथा तथा शुकादीनाम् नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ।।६।।
क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ।।७।।
सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ।।८।।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।।
सदानन्दपरैर् गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ।।९।।

(प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपायाः भक्तेः सर्वातिशायितायां स्वानुभवप्रामाण्यनिरूपणपूर्विका स्वमार्गे तदुपदेशावश्यकता)

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।।
निरुद्धानान्तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ।।१०।।
हरिणा ये विनिर्मुक्ताः ते मग्ना भवसागरे ।।
ये निरुद्धास् तएवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ।।११।।

(प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिसिद्ध्यर्थं देहेन्द्रियादीनां सकलानां

भगवति विनियोगः करणीयः, तेनैव च भक्तेः निरोधावस्थायां परिपाको भवतीति निरूपणम्)

संसारावेशदुष्टानाम् इन्द्रियाणां हिताय वै ।।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ।।१२।।
गुणेष्वाविष्ट-चित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।।
संसार-विरह-क्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम् ।।१३।।
तदा भवेद् दयालुत्वम् अन्यथा क्रूरता मता ।।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोऽपि सिध्यति ।।१४।।
भगवद्धर्मसामर्थ्याद् विरागो विषये स्थिरः ।।
गुणैर् हरि-सुख-स्पर्शात् न दुःखं भाति कर्हिचित् ।।१५।।
एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षो गुणवर्णने ।।
अमत्सरैः अलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ।।१६।।

(देहेन्द्रियादीनां सकलानां भगवति विनियोगेनैव तेषु भगवद्-व्यसनं सिध्यति येनच प्रापञ्चिकविषयेषु संसारासक्तिः च क्षीणा भवत्येव)

हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्रहि ।।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ।।१७।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ।।१८।।
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ।।१९।।

(भक्तेः निरोधावस्थायां परिपाकाद् उत्कृष्टतरं पुष्टिमार्गे न किमपि सम्भवति)

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ॥
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥२०॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यप्रकटितं निरोधलक्षणम् सम्पूर्णम् ॥

॥ सेवाफलम् ॥
(२१)

(सेवायां फलत्रयं : अलौकिकसामर्थ्यं[क] सायुज्यं[ख] सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु[ग])

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ॥
अलौकिकस्य[क] दानेहि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥१॥
फलं[ग] वा ह्यधिकारो[ख] वा न कालोऽत्र नियामकः ।

(सेवायां प्रतिवन्धकत्रयं : उद्वेगः[च] प्रतिवन्धो[छ] भोगो[ज] वा. त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः. भोगो द्विविधः – लौकिकः[ज/१] अलौकिकः[ज/२] च. तत्र लौकिकस् त्याज्यएव; अलौकिकस्तु फलानां मध्ये प्रथमे[क] प्रविशति. प्रतिवन्धोऽपि द्विविधः – साधारणो[छ/१] भगवत्कृतः[छ/२] च. तत्र आद्यो[छ/१] वुद्ध्या त्याज्यः. भगवत्कृतः चेत् प्रतिवन्धः[छ/२] तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्. तदा अन्यसेवापि व्यर्था. तदा "आसुरोऽयं जीवः" इति निर्धारः. तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय इति विवेकः.

उद्वेगनिवारणोपायाः नवरत्नएवोपदिष्टाइति नात्र पुनरुच्यन्ते)

उद्वेगः[च] प्रतिबन्धो[छ/१-२] वा भोगो[ज/१] वा स्यात्तु बाधकम् ॥२॥
अकर्तव्यं भगवतः[छ/२] सर्वथा चेद् गतिर्नहि ॥
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥३॥
बाधकानां परित्यागो भोगे[ज/१]ऽप्येकं तथा परम् ॥
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः[ज/२] प्रथमे विशते सदा ॥४॥

(तत्र साधारणो भोगः सविघ्नत्वाद् अल्पत्वाद्[च/१] त्याज्यः. अल्पभोगः सविघ्नभोगः चेति एतौ प्रतिवन्धकौ भवतएव. द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिवन्धो[छ/२] भवति चेत् तदा तस्मिंश्च जाते ज्ञानावस्थितिरपि न भविष्यतीति उत्कृष्टफल[क/ख/ग]विषयिणी चिन्तैव त्यक्तव्या)

सविघ्नोऽल्पो[ज/१] घातकः स्याद् बलाद् एतौ सदा मतौ ॥
द्वितीये[छ/२] सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥५॥

(आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति. तदा "सेवा नाधिदैविकी" इत्युक्तं भवति. भोगाभावः तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः इति निरूपणम्)

नत्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ॥

(ग्रन्थोपसंहारः)

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वम् अन्यन् मनोभ्रमः ॥६॥
तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ॥

गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यम् एतदेवेति मे मतिः ॥७॥
कुसृष्टिरत्र वा काचिद् उत्पद्येत स वै भ्रमः ॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सेवाफलं सम्पूर्णम् ॥

॥ पञ्चश्लोकी ॥
(२२)

[पुष्टिभक्तिमार्गे भक्तिवर्धिन्युक्तदिशया दृढवीजभावानाम्[क] अदृढवीजभावेषु अव्याावृत्तानां[ख/१] व्यावृत्तानां[ख/२] च; अथच पुष्टिप्रपत्तिमार्गेऽपि त्याज्यग्राह्ययोः इतिकर्तव्यतायाः उपदेशः]

(स्वगृहे भगवत्सेवां कर्तुम् असमर्थानां भगवत्कथाप्रणालिकया जातदृढवीजभावानां[क] कृते गृहत्यागानुज्ञा. अदृढवीजभावेषु अव्यावृत्तानां[ख/१] कृते च गृहस्य भगवत्सेवायां विनियोगाज्ञा)

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते ॥
कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः ॥१॥

(अदृढवीजभावेषु व्यावृत्तानां[ख/२] स्वगृहाद् अन्यत्र भगवत्सेवाकथापरैः भगवदीयैः सह भगवत्परिचर्या-भगवत्कथाश्रवणयोः परायणानां कृते सत्सङ्गः कथं करणीयः इति तदितिकर्तव्यतायाः उपदेशः)

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते ॥

स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम् ॥२॥

(अदृढवीजभावेषु अव्यावृत्तानां[ख/१] कृते च उपदिष्टस्य गृहादेः यो भगवत्सेवायां विनियोगः उक्तः स कथं करणीयः इति तदितिकर्तव्यतायाः उपदेशः)

अनुकूले कलत्रादौ विष्णोः कार्याणि कारयेत् ॥
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत् ॥३॥
तत्-त्यागे दूषणं नास्ति यतः कृष्णबहिर्मुखाः ॥

(पुष्टिप्रपत्तिमार्गे त्याज्यग्राह्यविवेकविषयिण्याः षड्विधायाः इतिकर्तव्यतायाः उपदेशः)

अनुकूलस्य सङ्कल्पः[१] प्रतिकूलविसर्जनम्[२] ॥४॥
करिष्यतीति विश्वासो[३] भर्तृत्वे वरणं तथा[४] ॥
आत्मनैवेद्य-कार्पण्ये[५-६] षड्विधा शरणागतिः ॥५॥

॥ इति श्रीमद्-वल्लभाचार्यकृता पञ्चश्लोकी समाप्ता ॥

॥ साधनप्रकरणम् ॥
(२३)
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धस्य सर्वनिर्णयान्तर्गतम्)

(पाषण्डमतप्रचारप्रचुरे कलियुगेऽस्मिन् धर्ममार्गं परित्यज्य छलेन

अधर्मवर्तिनामेव बाहुल्यं जातमिति स्वाध्यायाचारादिषु वैधप्रकारवैगुण्याद् देशकालद्रव्यमन्त्रकर्मकर्तृणाम् अशुद्धेश्च धर्मजननासम्भवेऽपि पाषण्डमताननुसरणपूर्वकेन भागवतमार्गेण श्रीकृष्णभजनपरायणाः कलिदोषैः न अभिभूयन्ते इति साधनप्रकरणोपक्रमः)

अधुनातु कलौ सर्वे विरुद्धाचार-तत्पराः ॥
स्वाध्यायादि-क्रिया-हीनाः तथाचार-पराङ्मुखाः ॥(१)२१२॥
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते ॥
विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता जिह्वोपस्थ-परायणाः ॥(२)२१३॥
व्रात्यप्रायाः स्वतो दुष्टाः तत्र धर्मः कथं भवेत् ॥
षड्भिः सम्पद्यते धर्मस् ते दुर्लभतराः कलौ ॥(३)२१४॥
अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा ॥
श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति ॥(४)२१५॥

(वेदनिन्दायाम् अधर्माचरणात्तु वा हीनयोनावपि जातानां पूर्वसंस्कारतः भगवद्भजने प्रवृत्तौ मुक्तिः. संसाराभिनिवेशेतु पुनः जन्ममरणचक्रे पातः. तस्माद् वेदनिन्दाभावे भक्तिमार्गः समीचीनः)

अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा ॥
नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते ॥(५)२१६॥
पूर्वसंस्कारतस् तत्र भजन् मुच्येत जन्मभिः ॥
अत्यन्ताभिनिवेशश् चेत् संसारे न भवेत् तदा ॥(६)२१७॥
एतावन्मार्गताप्यस्ति मार्गेऽस्मिन् मुरवैरिणः ॥

(अनन्यदास्यभावनया श्रीकृष्णे मनोनिवेशनस्य फलं सायुज्यं, दारागारपुत्राप्तादीनां सर्वेषां श्रीकृष्णाय समर्पणं कृत्वा माहात्म्यज्ञानसहितप्रेमयुक्तस्य भक्तस्य इतरेभ्यो वैशिष्ट्यं दुर्लभत्वञ्च)

सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे ॥(७)२१८॥
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम् ॥
एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः ॥(८)२१९॥
यो दारागार-पुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ॥
हित्वा कृष्णे परं-भावं-गतः प्रेमप्लुतः सदा ॥(९)२२०॥

(प्रमेय[१] फल[२] साधन[३] प्रमाण[४] भेदोत्कर्षात् "भक्तिमार्गस्य सर्वोत्तमत्वम्")

विशिष्टरूपं वेदार्थः[१] फलं[२] प्रेम च साधनम् ॥
तत्साधनं नवविधा भक्तिस्[३] तत्प्रतिपादिका ॥(१०)२२१॥
गीता सङ्क्षेपतस्तस्या वक्ता स्वयम् अभूद्धरिः ॥
तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम् ॥(११)२२२॥
व्यासः समाधिना सर्वम् आह कृष्णोक्तमादितः[४] ॥
मार्गोऽयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितः ॥(१२)२२३॥
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः ॥

(कलिदोषवशाद् अन्येषाम् उपायानाम् असाधकत्वेऽपि भक्तिमार्गस्यतु कलावपि ध्रुवं फलप्रदत्वम् इति निरूपणम्)

वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेनतु ॥(१३)२२४॥

क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतस्तस्मान् न मोचनम्॥
बुद्धिमानादरं तस्मिन् छले साध्येऽपि दुःखतः॥(१४)२२५॥
त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्॥

(भक्तिमार्गे श्रुतिस्मृतिविरुद्धाचारो नास्ति, प्रमेयमपि वेदविरुद्धं नास्त्येव. यद्यपि मायावादिनां भक्तौ निगूढद्वेषो वर्तते तथापि मायावादस्यैव अप्रामाणिकत्वं न पुनः भक्तिमार्गस्य, भगवत्कृपैकमूलत्वाच्च तस्य. तत्र भगवत्कृपाविशिष्टानामेव फलमुखाधिकारः न सर्वेषाम्. कृपापरिज्ञानमपि भक्तिमार्गरुच्यैव निश्चीयते नान्यथा इति निरूपणम्)

विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुध्यते॥(१५)२२६॥
कल्पितैरेव बाधः स्याद् अवोचाम प्रमाणताम्॥
सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्यहि॥(१६)२२७॥
तस्य सर्वमशक्यं स्यान् मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि॥
कृपायुक्तस्यतु यथा सिध्येत् कारणमुच्यते॥(१७)२२८॥

(भक्तिमार्गीयसाधनेषु आदिमं साधनं : दम्भादिरहितस्य श्रीकृष्णसेवापरायणस्य श्रीभागवततत्त्वज्ञस्यैव पुरुषस्य गुरुबुद्धया अनुसरणम्)

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्॥
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्॥(१८)२२९॥

(एतादृग्गुरोः दुर्लभत्वे पूर्वोक्तानुकल्पतया भगवत्सेवायां स्वतोऽपि

आरब्धायां श्रीकृष्णमूर्तेः साक्षाद् भगवत्त्वं ध्रुवमेव इति प्रतिपादनम्)

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्॥
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्॥(१९)२३०॥
साकारव्यापकत्वाच्च मन्त्रस्यापि विधानतः॥

(श्रीकृष्णस्यैव भक्तिमार्गानुसारणैव च यथालब्धोपचारैः प्रेम्णा पूजनं कर्तव्यं[1], तत्र भार्यादीनाम् आनुकूल्ये भगवत्सेवायां विनियोगानुज्ञा[2], औदासीन्ये विनियोगनिषेधः[3], प्रातिकूल्ये परित्यागाज्ञा[4])

श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः॥(२०)२३१॥
यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि॥
अलङ्कुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम्[1]॥(२१)२३२॥
भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्-क्रियाम्[2]॥
उदासीने स्वयं कुर्यात्[3] प्रतिकूले गृहं त्यजेत्॥(२२)२३३॥
तत्-त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णु-पराङ्-मुखाः[4]॥

(भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य आजीविकाविषये नियमाः, आजीविकाव्यापृतस्य चित्तस्य भगवति योजनायै उपायस्तु नियमतो भागवतपाठः(सत्यधिकारे)एवं. भागवतपाठोऽपि आन्तरं कृष्णभजनमेव. अतो अत्रापि प्रतिकूलत्यागनियमवर्णने कृष्णभावनया सर्वं पुरुषं सहेत; वैराग्यं परितोषञ्च सर्वथा न परित्यजेद् इति निरूपणम्)

सर्वथा वृत्तिहीनश्चेद् एकं यामं हरौ नयेत्॥(२३)२३४॥

पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतमादरात्॥
सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनात्॥(२४)२३५॥
वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत्॥
एतद्-देहावसानेतु कृतार्थः स्यान्न संशयः॥(२५)२३६॥
इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा॥

(भजनप्रकारस्य[१] भजनोपयोगिसामग्र्याः[२] भजनकर्तुः[३] भजनकालस्य[४] च स्वरूपाणि)

सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनः स्थिरम्॥(२६)२३७॥
दृढविश्वासतो युक्त्या यथा सिध्येत् तथाऽऽचरेत्॥
वृथालापक्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजेत्[१]॥(२७)२३८॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियम् आत्मनः॥
येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्[२]॥(२८)२३९॥
स्वयं परिचरेद् भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः[३]॥
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्[४]॥(२९)२४०॥

(शास्त्रविहितनित्यकर्मरूपधर्मे प्रवृत्तेः निषिद्धकर्मरूपाधर्माद् निवृत्तेश्च इन्द्रियविनिग्रहस्य चापि भगवद्भजनाङ्गत्वम्. दुष्टसङ्गः स्वधर्माचरणनिषिद्धत्यागेन्द्रियनिग्रहाणां बाधकइति तत्त्यागस्य आवश्यकता. भक्तिविरोधित्वेतु धर्माणामपि त्यागः कर्तव्यः. परोपकारादिधर्माअपि न कर्तव्याः, यदि भगवदर्चनविरोधिनो भवन्ति)

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्॥

इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम्॥(३०)२४१॥
एतद्-विरोधि यत् किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेत्॥
धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन्॥(३१)२४२॥

(भक्तिमार्गे पूजासाधनानुवृत्तौ यथा-यथा भक्तमनसि भगवदावेशः तथा-तथा भक्तिसाधनेषु निष्ठाप्रवृद्धिः[१]. इह दैन्यस्य आवश्यकता अहंकारस्य च भक्तिबाधकता[२]. भक्तिसिद्ध्यर्थं भगवद्गुणगानं नामोच्चारणं च निर्भयतया निस्पृहतया च कर्तव्यं भवति[३]. सर्वहेतुविवर्जितस्यैव भागवतपाठस्य भगवति भावजनकत्वम्[४])

यथा-यथा हरिः कृष्णो मनस्याविशते निजे॥
तथा-तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धते[१]॥(३२)२४३॥
कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना॥
अहङ्कारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत्[२]॥(३३)२४४॥
सर्वथा तद्गुणालापं नामोच्चारणमेव वा॥
सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निःस्पृहस्ततः[३]॥(३४)२४५॥
साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्॥
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः[४]॥(३५)२४६॥

(भक्तिमार्गे शंखचक्रमुद्रा-तुलसीकाष्ठजमाला-उर्ध्वपुण्ड्रादीनां धारणस्य आवश्यकता)

शङ्खचक्रादिकं धार्यं मृदा पूजाङ्गमेव तत्॥

तुलसीकाष्ठजा माला तिलकं लिङ्गमेव तत्॥(३६)२४७॥

(दशमीवेधवर्जितः एकादश्युपवासः, सप्तमीवेधवर्जितं जन्माष्टमीव्रतं, तथैव रामनवमी-नृसिंह-वामनजयन्त्युत्सवेष्वपि उत्सवोपवासौ कर्तव्यावेव)

एकादश्युपवासादि कर्तव्यं वेधवर्जितम्॥
तथा कृष्णाष्टमी चापि सप्तमी वेधवर्जिता॥(३७)२४८॥
अन्यान्यपि तथा कुर्याद् उत्सवो यत्र वै हरेः॥

(गृहस्थस्यतु एतत् सर्वं मुख्यं कर्तव्यं[१], ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतदेव कर्तव्यं न अन्यथा[२], संन्यासिनस्तु निरन्तरं पर्यटनमेव मुख्यं नैतद्[३])

एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्[१]॥(३८)२४९॥
अन्येषां सम्भवेत्तु स्याद्[२] यतेः पर्यटनं वरम्[३]॥

(गृहस्थानामपि मानसिक[१]शारीरिक[२]पारिवारिका[३]हङ्कारिक[४]मामकारिक[५]-दोषाणां सम्भवे पूजापरित्यागेन पर्यटनं वा दोषरहितपूजानुकूलदेशे स्थितिः वा इति विकल्पः)

विक्षेपाद[१]थवाशक्त्या[२] प्रतिबन्धाद[३]पि क्वचित्॥(३९)२५०॥
अत्याग्रहप्रवेशे[४] वा परपीडा[५]दिसम्भवे॥
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा॥(४०)२५१॥

(यज्ञतीर्थयोः तुल्यत्वेन वर्णाश्रमस्थितानामपि वर्णाश्रमधर्मैः तीर्थानां

विकल्पः[१], तीर्थाटननियमाः[२] च तीर्थयात्रायाः उत्तमोत्तमत्वोक्तिश्च)

यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः[१]॥
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दिनान् नाधिकस्यहि॥(४१)२५२॥
हतत्रपः पठेन् नित्यं नामानि च कृतानि च॥
एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः॥(४२)२५३॥
देहपातनपर्यन्तम् अव्यग्रात्मा सदागतिः[२]॥
उत्तमोत्तममेतद्धि पूर्वमुक्तममीरितम्॥(४३)२५४॥

(दृढवीजभावानां भगवद्विरहानुभावार्थं गृहधनादेः त्यागानुज्ञा[क] अदृढवीजभावानान्तु भगवद्भक्त्यर्थं तत्संग्रहाज्ञा[ख] इति कल्पद्वयम्)

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं[क] तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते॥
कृष्णार्थं तन् नियुञ्जीत[ख] कृष्णः संसारमोचकः॥(४४)२५५॥
धनं सर्वात्मना त्याज्यं[क] तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते॥
कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत[ख] कृष्णोऽनर्थस्य वारकः॥(४५)२५६॥

(पूर्वोक्तकल्पयोः असामर्थ्ये तृतीयोऽनुकल्पः सर्वहेतुविवर्जितो भागवतपाठः. प्राणसङ्कटेऽपि अर्थोपार्जने तद्विनियोगो निषिद्धः)

अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतमादरात्॥
पठनीयं प्रयत्नेन सर्व-हेतु-विवर्जितम्॥(४६)२५७॥
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि॥

तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्॥(४७)२५८॥
त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णमवाप्नुयात्॥

(भागवतपाठेऽपि सामर्थ्याभावे चतुर्थो ह्यनुकल्पः प्रपत्तिमार्गानुसरणम्)

जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा॥(४८)२५९॥
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः॥

(भागवतोक्त-भक्तिमार्गीय-फलसाधननिर्धारणोपसंहारः)

एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गतिसाधनसंयुतम्॥(४९)२६०॥

॥इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिते श्रीभागवततत्त्वदीपे सर्वनिर्णयान्तर्गते साधनप्रकरणम् सम्पूर्णम्॥

॥शिक्षापद्यानि॥
(२४)

(पुष्टिमार्गे वाहिर्मुख्यं=भगवद्-वैमुख्यं सर्वतो गरीयान् दोषः. भगवदभिमुखस्य पुष्टिजीवस्य फलादिदाने कालादेः नियामकत्वं नास्ति किन्तु भगवद्-विमुखस्य तस्यैव काल-कर्म-स्वभावादयः वाधकाः भवन्त्येवेति निरूपणम्)

यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन॥
तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोप्युत॥१॥
सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान् इति मतिर्मम॥

(पुष्टिमार्गे लोकार्थितया क्रियमाणा भगवद्भक्तिः भगवत्प्रपत्तिरपिवा वाहिर्मुख्यजनिका भवत्येव)

न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्॥२॥

(पुष्टिमार्गीयजीवानां कृते इहलोके परलोके वा श्रीव्रजाधिपः पुष्टिप्रभुरेव सर्वस्वो भवति)

भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः॥
परलोकश्च..॥

(तस्मात् पुष्टिमार्गीयेन श्रीकृष्णार्थितयैव सर्वभावेन श्रीकृष्णसेवा करणीया)

.......................तेनायं सर्वभावेन सर्वथा॥३॥
सेव्यः..॥

(पुष्टिजीवहितं यथा भवति तथैव भगवान् करोतीति विश्वासो भगवति श्रीगोपीजनवल्लभे स्थापनीयो नतु कालकर्मस्वभावादिषु)

..............सएव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः॥४॥

॥इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितानि शिक्षापद्यानि समाप्तानि॥

॥साधनदीपिका॥
(२५)

(मङ्गलाचरणम्)

ता नः श्रीतात-पत्-पद्मरेणवः कामधेनवः॥

नाकस्य तरवोऽन्येषां स्युः कल्पतरवो यथा ॥१॥
श्रुति-स्मृति-शिरोरत्न—नीराजित-पदाम्बुजम् ॥
यशोदोत्सङ्गललितं वन्दे श्रीनन्दनन्दनम् ॥२॥

(चिकीर्षितग्रन्थप्रामाण्यनिरूपणम्)

भक्तिमार्ग-वितानाय योऽवतीर्णो हुताशनः ॥
सएव नः परं मानं शेषमस्य प्रमान्तरम् ॥३॥
वेदत्रयी-शिरोभाग - सूत्र-व्याख्यान-सम्मताम् ॥
भक्तिशास्त्रानुसारेण कुर्वे साधनदीपिकाम् ॥४॥

(श्रीहरिभजनावश्यकतोपपादनेन ग्रन्थोपक्रमः)

"आत्मा वार" इति श्रुत्या दर्शनैकफलो विधिः ॥
श्रवणाद्यैः प्रतिज्ञातः "तं भजेत्"-"तं रसेदि"ति ॥५॥
"तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ॥
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्" ॥६॥
पुरुषस्याविशेषेण संसारं प्रजिहासतः ॥
हरेराराधने मुक्तिः................................॥

(तत्र कीदृशोः गुरोः आवश्यकता इति निरूपणम्)

.............................तत्प्रकारो निरूप्यते ॥७॥
"माहात्म्यज्ञानपूर्वो हि सुदृढः सर्वतोऽधिकः ॥

स्नेहो 'भक्ति'रिति प्रोक्तः तया मुक्तिर्न चान्यथा" ॥८॥
माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ॥
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोर् भवेत् ॥९॥
"कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ॥
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्" ॥१०॥

(स्वमार्गीयगुरोः आदिमं कर्तव्यं: भगवत्प्रपत्त्यर्थं दैवजीवानां प्रेरणम्)

देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः ॥
गुरुणा कर्णधारेण ★/[१]ह्युत्तार्या स्वोपदेशतः ॥११॥
"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" ॥१२॥
"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" ॥
इति श्रुत्या तथा स्मृत्या प्रपत्त्यादेशमादितः ॥१३॥

(स्वमार्गे द्विजकुलोद्भूतानां शिष्याणां कर्तव्यस्य निरूपणम्)

प्रेम्णोपदेश-श्रवणात् प्रपत्तेः प्रेम कारणम् ॥
अतो मूलाभिषको हि कार्यस् तेनास्य सेवने ॥१४॥
नहि देहभृता शक्यं कर्म त्यक्तुमशेषतः ॥
अतः स्वधर्माचरणं भारद्वैगुण्यम् अन्यथा ॥१५॥
स्वधर्माचरणं शक्त्या ह्यधर्मात्तु निवर्तनम् ॥
इन्द्रिया-ऽश्व-विनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयं ॥१६॥

इति भागवतो धर्मः श्रीमदाचार्यसम्मतः ॥
भक्तिशास्त्रानुकूल्येन स्वधर्माचरणं भवेत् ॥१७॥

(तत्र स्वस्वशाखानुसारेण षोडशसंस्काराणां तन्मूलकाह्निकशौचाचारा[१-६]दीनां च भक्त्युपयोगितयैव द्विजशरीरधारिणा अनुष्ठानम्)

गर्भाधानादि-संस्कारैः द्विजैर् मौञ्ज्यन्त-सम्भवैः ॥
देहः संशोधनीयो हि हरिभावो न चान्यथा ॥१८॥
शौचाचार-विहीनस्य आसुरावेश-सम्भवात् ॥
ततः स्वाह्निक-धर्माणाम् आचारोऽपि प्रसज्यते ॥१९॥
स्नानं[१] सन्ध्याजपो[२] होमः[३] स्वाध्यायः[४] पितृतर्पणम्[५] ॥
वैश्वदेवकदेवार्चा[६] इति षट्कर्मकृद् भवेत् ॥२०॥
यथा हि स्कन्द-शाखानां तरोर् मूलाभिषेचनम् ॥
तथा सर्वार्हणं यस्मात् परिचर्याविधिर् हरेः ॥२१॥
अतस्तदनुरोधेन नित्यकर्मकृतिर्वरा ॥
अन्यथा तु कृतिर्व्यर्था त्रैवर्ग्यविषया यतः ॥२२॥
गर्भाधानादिसंस्कारैः स्वशाखोक्तैर् द्विजो युतः ॥
गुरुं प्रपद्येद्.................................॥

(द्विजेतराणां शिष्याणां कर्तव्यस्य निरूपणम्)

...............अन्यस्तु सदाचारोऽस्य संश्रयात् ॥२३॥

(प्रपत्तौ दीक्षितानां[क] वैष्णवाचार[ख]परिपालनपराणां कृते सप्तविध-भक्ति[ग/१-७]-वैष्णवव्रतोत्स[घ]-पञ्चयज्ञ[ङ]-तीर्थवास[च]-वैष्णवतिलकादि-वाह्याभ्यन्तर-चिह्न[ङ-ज]धारणादेः उपदेशः)

★[२]लब्ध्वानुग्रहम् आचार्यात् श्रीकृष्णशरणं जनः[क] ॥
धारयेत् तिलकं मालां वैष्णवाचारतत्परः ॥२४॥
सर्वस्वं हरिसात्कार्यं त्यजेत् सर्वम् अवैष्णवम् ॥
हिंस्र-काम्या-ऽन्यदेवार्चा यदि नित्यं च लौकिकम् ॥२५॥
पूर्वभाण्डादिकं सर्वं परित्यज्य विशुद्धितः[ख] ॥
श्रवणादि[ग/१-७]परो नित्यं हरेः प्रेमास्पदो भवेत् ॥२६॥
हरेर्गुणानां श्रवणं ज्यायोभ्यः शृणुयात् सदा[ग/१] ॥
जातशिक्षः यवीयोभ्यः कीर्तयेद् अन्यथैकलः[ग/२] ॥२७॥
अतिसुन्दररूपाणि लीलाधामानि संस्मरेत्[ग/३] ॥
पादसेवा हरेः कार्या सर्वसम्पन्निकेतनैः[ग/४] ॥२८॥
अर्चनं प्रत्यहं तस्य विधिना नियमेन च[ग/५] ॥
वन्दनं चरणाम्भोजे तस्य भावनयाखिले[ग/६] ॥२९॥
दास्यं तदेकशरणं तत्प्रसादैकभोजनम्[ग/७] ॥
एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेत् ॥३०॥
पूर्वविद्धं परित्याज्यं व्रतं तद्विष्णुपञ्चकम् ॥
★[३]जयन्ती तूदयेऽन्येन दुष्टान्याप्यरुणोदयात् ॥३१॥
वर्षाश्रितान्युत्सवानि स्वाश्रितान्यपि यान्युत[घ] ॥

तानि सर्वाणि हरये ★[४]ह्यनुकूलानि चार्पयेत् ॥३२॥
श्राद्धानि चोत्तमान्येव वैश्वदेवं च दैवकम् ॥
हरेः प्रसादतः कुर्यात् ततस्तृप्तिरनुत्तमा ॥३३॥
प्रसादोऽपि बलिः कार्यः स्वात्मसंस्कारएव सः ॥
अन्नस्य चात्मनश्चापि तत्संस्कारेण तत्परः ॥३४॥
विप्रा गावो हरेर्भक्ताः सदा पूज्या हरेः प्रियाः ॥
गृहस्थस्यातिथिर्यस्मात् पूज्यो दीनो दयास्पदः[ङ] ॥३५॥
जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले ॥
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेच्च तत्परः ॥३६॥
गंगादि-तीर्थ-वर्येषु यथा चित्तं न दुष्यति[च] ॥
श्रवणाद्यैः भजेदेवं श्रीभागवततत्परः ॥३७॥
ऊर्ध्वपुण्ड्राणि मृन्मुद्राः तुलसीकाष्ठजापि स्रक् ॥
बाह्याङ्कान्यान्तराणि स्युः भक्ते शान्तिविरक्तयः ॥३८॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ॥
दया दानं च विज्ञानं श्रद्धा दैवात्मसम्पदः ॥३९॥
दैवात्मसम्पदः पुंसः भक्तिर्भवति नैष्ठिकी[छ-ज] ॥

(एतैः गुणैः भक्तिः सर्वात्मभावापन्ना सती इहलोके प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तौ वैकुण्ठादिभगवल्लोकेषु च सेवोपयोगिदेहप्राप्तावपि फलिता भवति)

यया 'सर्वात्मभावा'ख्या परा सिद्धिः स्वयं भवेत् ॥४०॥

सर्ववस्तुषु वैराग्यं दोषदृष्ट्या विभावयेत् ॥
दमनाद् इन्द्रियाणां च सन्तुष्ट्यापि च सिध्यति ॥४१॥
सर्वत्रैव विरक्तस्य रागः स्याद् नन्दनन्दने ॥
तेनासक्तिश्च व्यसनं प्रपञ्चास्फुरणं भवेत् ॥४२॥
एवं निरुद्धचित्तस्यानुगृहीतस्य चेशितुः ॥
लीलाप्रवेशोऽपीष्टश्च ''तस्मान्मच्छरणो''क्तितः ॥४३॥

(एतादृशानां वैष्णवानां भूतलेऽस्मिन् स्थितिः नेतरसाधारणी भवति)

न पापं स करोत्येव प्रमादे त्वाशु निष्कृतिः ॥
अज्ञातस्खलितानां च हरिरेव परा गतिः ॥४४॥
हरिर् ★[५]भक्तापराधेषु दययैव प्रसीदति ॥
दोषेषु न गतिस्तस्माद् दोषान् सम्परिवर्जयेत् ॥४५॥
अशून्या दिवसा यामाः मुहूर्त-घटिका-लवाः ॥
भगवद्भजनैः कार्याः संसारासक्तिरन्यथा ॥४६॥

(श्रीहरिभजनवद् गुरोश्च वैष्णवभक्तानांश्चापि नमनार्चनप्रपत्तयः श्रीहरिभावनया कर्तव्याः)

गुरुसेवा गुरोराज्ञा गुरौ श्रीहरिभावना ॥
गुरौ भयं गुरौ सिद्धिः प्रपन्नः परिभावयेत् ॥४७॥
भक्तवृन्दान् नमेद् अर्चेद् दृष्ट्वा ★[६]हृष्येत् (/हर्षं) समानयेत् ॥
भक्तेष्वेवं हरिं साक्षात् प्रसादेन व्यवस्थितम् ॥४८॥

विना भक्तप्रसङ्गेन सद्गुरोः कृपया विना॥
श्रीभागवतशास्त्रेण विना भक्तिः कथं भवेत्॥४९॥
विना गद्गद्कण्ठेन द्रवता चेतसा विना॥
विना नृत्येन गानेन हरिप्रीतिः कथं भवेत्?॥५०॥
''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया॥
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते''॥५१॥

(भगवदैककर्तृकायां भगवदात्मिकायां च अस्यां सृष्टौ पुष्टिजीवाः भजनानन्दानुभव-प्रदानार्थमेव सृष्टाः)

क्रीडार्थमसृजत् पूर्वं स्वात्मना स्वात्मकं जगत्॥
तत्र कायभवा पुष्टिः लीलासृष्टिरनुत्तमा॥५२॥
वामांश-सम्भवानान्तु भजनानन्दलब्धये॥
विसृष्टानां ततोऽन्येषां नान्या साधनपद्धतिः॥५३॥
''यस्यायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः॥
स जहाति मतिं लोके वेदेच परिनिष्ठिताम्''॥५४॥
★[७]अनुग्रहे नियोज्योऽतः संग्रहः श्रुतिसम्मतः॥
महतां समयो मानं महान्तोऽत्र हरेः प्रियाः॥५५॥

(श्रीमद्भागवत ३।७।१८ श्लोकोक्त-'रतिरासा'ख्यस्य भजनानन्दस्य उपलब्धये आत्मसमर्पणादिसाधनानां निरूपणम्)

अतस्तदनुरोधेन 'रतिरासो' यथा भवेत्॥
तदर्थं वरणं कार्यं श्रीगोपालमहामनोः॥५६॥

नायमात्मा प्रवचनैर्न धिया न बहुश्रुतैः॥
लभ्यते वरणं हित्वा वृतं संवृणुते श्रुतेः॥५७॥
स्मृत्वा स्वीयवियोगाग्निं तापदाहो भवाम्बुधौ॥
ततः सर्वं समर्प्यैव श्रीगोपालमनुं श्रयेत्॥५८॥
''इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्॥
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्''॥५९॥
''इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया॥
नारायणपरो मायाम् अञ्जस्तरति दुस्तराम्''॥६०॥
एवं योगीश्वरोक्तेन भक्तिमार्गेण यो यजेत्॥
सएवातीत्य कलिजान् दोषान् गच्छेत् परं पदम्॥६१॥

(तत्र कानिचिद् निषिद्धानि निरूप्यन्ते)

नावैष्णवैः सह वसेन् न तैः संसर्गमाचरेत्॥
प्रसङ्गेषु हरिं ध्यायेत् स्नायात् कर्मणि मन्त्रतः॥६२॥
देहशुद्धिः सदा कार्या करशुद्धिर्विशेषतः॥
स्वपात्रं भगवत्पात्रं स्नानपात्रं न मेलयेत्॥६३॥
एवं वस्त्रेऽपि विज्ञेये ★[८]शुद्ध्यशुद्धी स्ववैष्णवैः॥
गोपयेत् स्वागमाचारं पाकसेवां हरेरपि॥६४॥

(भगवत्सेवायां व्यवहार्याणां शुचीनां वस्तूनाम् उपदेशः)

सौवर्णैः राजतैस्ताम्रैः पात्रैर्व्यवहरेत् परैः॥

पाके स्वीयान् सतीर्थ्यांश्च सवर्णान् संनियोजयेत् ॥६५॥
समर्प्यैव शुचिः पूर्वं हरयेऽन्यत्र योजयेत् ॥
★[९]द्विमुखं शुचि पात्रं तु ह्यंशुकं लोमजं शुचिः ॥६६॥
कार्पासमाहतं शुद्धं नवकौसुम्भयुक् शुचि ॥
विप्रैर्व्यवहृतं तीर्थम् आरामं च गृहं शुचि ॥६७॥

(भगवत्सेवापरायणानाम् अन्यदेवाश्रयस्य सर्वथा निषिद्धत्वेऽपि अन्यदेवानाम् अवमाननापि हि निषिद्धेति तत्र अनुष्ठेयः प्रकारः)

नान्यदेवं व्रजेद् नैव ★[१०]प्रसक्तौ ह्यपमानयेत् ॥
तीर्थेषु तीर्थदेवानां भूदेवानां समर्चनम् ॥६८॥

(कलौ संन्यासाग्निहोत्रादयः अशक्याः इति स्मार्ताग्निधारणविधानम्)

संन्यासश्चाग्निहोत्रं च कलौ नैव यथाविधि ॥
सन्दिग्धधर्मसेवापि क्लेशायैवाल्पमेधसाम् ॥६९॥
समर्थस्तु तयोः कुर्याद् विद्वान् स्मार्ताग्निधारणम् ॥
न्यासाश्रमात् पतन् मर्त्य आरूढपतितोऽगतिः ॥७०॥
यद्यप्येवं हि गार्हस्थ्यं वर्णधर्मेण दुष्करम् ॥
तथाप्यायातपतितं तद्वचभ(!?) देहयात्रया ॥७१॥
न गार्हस्थ्यं विना देह-यात्रा-धर्मोऽपि सिध्यति ॥
अतस्तस्मिन् स्थितस्यैव यत्किञ्चित्सिद्धि-सम्भवः ॥७२॥
आश्रमो द्विविधः कौर्मे तत्रोदासीनको गृही ॥

★[११]आद्येऽपि नैष्ठिकश्चान्त्ये वैष्णवोऽधिकृतस्ततः ॥७३॥

(द्विजेतराणां कर्तव्यनिर्देशः)

शूद्रस्तु हिंस्रकार्येण निषिद्धस्याशनेन च ॥
निवृत्त्यासौ भजेत् कृष्णं महद्भिरनुकम्पितः ॥७४॥
सहितं हरिभक्तानां ब्राह्मणानां चरेद् गवाम् ॥
पादसेवा च महतां यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥७५॥
दानं व्रतं पैतृकं च शौचं शान्तिमथाश्रयेत् ॥
हरिमेव भजेत् प्रेम्णा तेन सिध्यति सत्वरम् ॥७६॥
न वेदश्रवणं कार्यं स्पर्धासूयादिनान्यतः ॥
न्यग्भावेन प्रपन्नोऽसौ भवेद् दासो हरेर्गुरोः ॥७७॥

(स्त्रीणां भगवद्भजनप्रकारस्य निरूपणम्)

सधवा भर्तृभावेन विधवा पुत्रभावतः ॥
श्रीकृष्णं संश्रयेत् साध्वी जितचित्तेन्द्रिया शुचिः ॥७८॥
पति-पुत्रादि-बन्धूनाम् आनुकूल्येऽस्य सेवनम् ॥
तदभावे भजेद् भक्त्या कीर्तनैः श्रवणैः ★[१२]स्मृतैः ॥७९॥
तेषामेव तथात्वे तु परिचर्या समन्दिरात् ॥
हरेर्गुरोः सम्भवति ह्यस्वतन्त्राः स्त्रियो यतः ॥८०॥
स्वतन्त्रतायां दोषो हि स्त्रीणां सर्वत्र जायते ॥
अतस्तया तथा भूत्वा हरिः सेव्यस्तदिच्छया ॥८१॥

चित्रमात्रेऽपि सेवा स्यात् प्रतिबन्धे गुरोर्गिरा ॥
छलेनापि भजन् कृष्णं मुच्यते गोपिकादि-वत् ॥८२॥
पुरुषापेक्षया स्त्रीणां हृदयं मृदु दृश्यते ॥
अतस्तदनुरागोऽत्र सद्य एवाभिषज्यते ॥८३॥
कामदोषो हि नारीणां कनकानां यथा रजः ॥
तज्जये विजितः कृष्णः कृष्णः स्त्रीणां प्रियो यतः ॥८४॥
उदकी च प्रसूता स्त्री अशुचिश्च तथा पुमान् ॥
दर्शनस्पर्शनादीनि सेव्यमूर्तेर्विवर्जयेत् ॥८५॥

(सेव्यस्य भगवत्स्वरूपस्य प्रकारः[1] सेवायाः च प्रकारः[2] स्वरूपप्रतिष्ठाप्रकारः[3] तच्छुद्धिः[4] तत्प्राप्तिः[5] इत्यादिविषयकोपदेशः)

चित्रमूर्तिरविज्ञानां पराधीनात्मनामपि ॥
शुचिश्लक्ष्णामपीच्यां च गुरुदत्तां भजेद् वरैः[1] ॥८६॥
तीर्थतोयैर्-निजैर्-मन्त्रैः संस्कृतां सुमनोहराम् ॥
लघ्वीमेव भजेद् मूर्तिं यथालब्धोपचारकैः[2] ॥८७॥
नात्र प्राणप्रतिष्ठादि व्यापकत्वादजीवतः ॥
स्थान-शुद्धयर्थमेवैतत् शब्दार्थमपि सद्गुरोः[3] ॥८८॥
अशुचिस्पर्शने तस्याः तथापञ्चामृतैरपि ॥
होमैर्-दानेन संशोध्या वैदिकेन निजात्मवत्[4] ॥८९॥
गुरुदत्तां स्वयंलब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम् ॥
व्यङ्गाङ्गीमपि सेवेत यदि भावो न बाध्यते[5] ॥९०॥

(प्रात्याह्निक-भगवत्सेवा-स्वरूपोपदेशः)

प्रातरारभ्य मध्याह्नावधिः चैवापराह्णके ॥
तत्तल्लीलानुभावेन भजेत् स्व-गुरु-सम्मताम् ॥९१॥
वस्त्रैश्च भूषणैर् गन्धैः नैवेद्यैर् व्यञ्जनैः शुभैः ॥
देश-काल-विभूतीनाम् अनुसारेण सेवनम् ॥९२॥
प्रेम्णा परिचरेत् साधुः यावज्जीवं समाहितः ॥
तेनास्य भावना-सिद्धिः यया स्यात् कृत-कृत्यता ॥९३॥
प्रातः पाश्चात्ययामेऽसौ समुत्थाय शुचिर्धिया ॥
स्मरेद् भगवतो लीलां गायेत् तस्य गुणान् गिरा ॥९४॥
प्रातः कृत्यं ततः कार्यं बहिर्गत्वा यथोदितम् ॥
मुखशुद्धिस्ततो नित्यं सौगन्धाभ्यञ्जनं भवेत् ॥९५॥
मलस्नानं गृहे कार्यं तप्तोदकपरोदकैः ॥
तस्योपरि श्रीयमुनाजलैः स्नानं स्तवैश्च वा ॥९६॥
तीर्थस्थाने मलस्नानं कृत्वा तीरेऽभिमज्जनम् ॥
ततस्तु धारणं शुद्धकौशेयाम्बरयुग्मयोः ॥९७॥
पादुकाभिर्गृहे यानं स्पर्शनं नैव कस्यचित् ॥
कुङ्कुमस्योर्ध्वपुण्ड्राणि द्वादशाङ्गेषु नामभिः ॥९८॥
शंख-चक्रादि-मुद्राश्च गोपी-चन्दन-मृत्स्नया ॥
चरणामृतपानं च लेपश्चापि विशुद्धये ॥९९॥
ततस्तु तुलसीमालां धृत्वा सन्ध्यां समाचरेत् ॥
परिचर्या हरेः कार्या परिवारजनैः सह ॥१००॥

गत्वा हरिपदं पद्भ्यां स्तुत्वा द्वारं प्रणम्य च।।
प्रविश्य मार्जनैर्लेपैः पात्राणां शोधनं चरेत्।।१०१।।
सम्भृत्य सर्वसम्भारं प्रातराशादिपूर्वकम्।।
प्रबोध्य श्रीहरिं प्रेम्णा मुखशुध्यंशुकादिभिः।।१०२।।
अलंकृत्य ततः सिंहासने समुपवेशयेत्।।
हैयङ्गवीनपक्वान्नैः ताम्बूलैः सुजलैर् यजेत्।।१०३।।
ततो नीराजनं कार्यं मङ्गलं गीतवाद्यकैः।।
★[१३]अभ्यङ्गोन्मर्दनैः स्नानं गृहस्नानविधानतः।।१०४।।
स्तुत्वा कालिन्दिनीस्नानं कुर्यात् सम्प्रोञ्छनांशुकम्(!?)।।
शृङ्गारं रञ्जितैर् वस्त्रैः चित्रैराभरणैरपि।।१०५।।
मायुरमुकुटै रम्यैः वेणुवेत्रैः सुमाल्यकैः।।
वितानैः प्रसरैः शुभ्रैः प्रतिसारैर् नवैर्नवैः।।१०६।।
जल-क्रीडोपस्करैश्च ताम्बूलामोद-दर्पणैः।।
व्यजनैर् जल-भृङ्गारैः देशकालानुसारिभिः।।१०७।।
अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्।।
तौर्यत्रिकेन तत्रापि धूप-दीपादिनार्तिकम्।।१०८।।
ततो नानाविधैः शुद्धैश् चतुर्विध-सुभोजनैः।।
सम्भृतं स्वर्णपात्रन्तु हरेरग्रे निवेदयेत्।।१०९।।
तुलसी-शंख-तोयेन गायत्र्यास्मिन् निधाय च।।
"एतत् समर्पितं देव भक्त्या मे प्रतिगृह्यताम्"।।११०।।
राजभोगं समर्प्यैवं, बहिर्-गो-ग्रासम् आचरेत्।।

ततोऽवशिष्टं जाप्यादि माध्याह्निकम् इहाचरेत्।।१११।।
ततस्त्वाचमनं दत्वा ताम्बूलं माल्यजां स्रजम्।।
अपसार्य विशोध्यात्र नैवेद्यं जलमानयेत्।।११२।।
ततो राजविभूतीनाम् आदर्शैश्चामरैर्भजेत्।।
गीताद्युत्सवतो ह्येनं नीराज्य च प्रणम्य च।।११३।।
हृदि कृत्वा पिधायास्य मन्दिरं बहिराव्रजेत्।।
स्रग्-गन्धादि शिरो धृत्वा प्रणम्यैव गृहं व्रजेत्।।११४।।
माध्याह्निकं समाप्यैव श्रीमद्भागवतं पठेत्।।
ततो भक्तजनेभ्योऽस्य प्रसादं शक्तितो भजेत्।।११५।।
समागतेभ्यो विप्रेभ्यो दीनेभ्यश्च यथायथम्।।
★[१४]दत्वा स्वीय-जनैर् भुक्तिः वैश्वदेवोऽपि तत्र वै।।११६।।
ततो वार्ता स्वकीयानां बहु-पापैरनाकुलाम्।।
यात्रार्थमेव सेवेत नाभिवेशोऽत्र सञ्चरेत्।।११७।।
सम्पन्न-वृत्तिर् भक्तानां शास्त्राणि परिभावयेत्।।
सर्वथा वृत्यभावे तु याममात्रं भजेद् हरिम्।।११८।।
दरिद्रश्च कुटुम्बार्तः विद्वान् भागवतं पठेत्।।
अविद्वानस्य सेवायां साहाय्यं श्रवणं च वा।।११९।।
सायंसन्ध्याथ पुण्ड्राणि धृत्वा, ताम्बूलतो मुखम्।।
संशोध्याचम्य शुद्धोऽसौ प्रभोरुत्थापनं चरेत्।।१२०।।
कन्दमूलैः फलैर्गव्यैः सुमाल्यैः सुजलैरपि।।
सन्तोष्य मुरजादीनां सङ्गीतेनापि तोषयेत्।।१२१।।

गायेद् भक्तकृतैः पद्यैः हृद्यैर् लीलारहस्यकैः॥
ततो नीराजयेन् नाथम् आयान्तं व्रजमण्डले॥१२२॥
सायंकालेऽपि नैवेद्यं यथा-विभव-विस्तरः॥
नीराजनं च शयनं यथायोग्यं विभावयेत्॥१२३॥
★[१५]सायंसन्ध्या-ऽऽहुतीश्चापि कृत्वा भुक्त्वा निवेदितम्॥
कथयेद् शृणुयाद् वापि लीलां भगवतोऽन्वहम्॥१२४॥
ततः शयीत शुद्धोऽसौ भावयन् भगवत्पदम्॥
सुतार्थिनी स्वपत्नी चेत् व्रजेत् तां जेतुम् इन्द्रियम्॥१२५॥
इत्येवं यस्य दिवसा यान्ति भक्तस्य भूतले॥
सएव कृतकृत्योऽस्ति हरिस्तमनुश्लिष्यति॥१२६॥

(ग्रन्थोपसंहारः)

इत्येवं भक्तिशास्त्रेषु यदाचारो निरूपितः॥
तदाचारं भजेदत्र नान्यथा गतिरिष्यते॥१२७॥

॥इति श्रीमद्भगवद्-वदनावतार-श्रीवल्लभदीक्षित-तनुज-श्रीगोपीनाथ-दीक्षित-विरचिता ★[१६]साधनदीपिका समाप्ता॥

उपरि संशोधितानां पाठानां मुद्रितपाठाः

★[१]उत्तार्याः, ★[२]लब्धानुग्रहम्, ★[३]जयन्ति, ★[४]हरयेऽनुकूलानि, ★[५]हरिभक्तापराधेषु ★[६]दृष्टया हर्षं, ★[७]अनुग्रहो नियोज्योतः संग्रहः श्रुतिसम्मतेः, ★[८]शुद्धाशुद्धिं ★[९]द्विमुखं तु शुचि पात्रमंशुकं..., ★[१०]प्रशक्तो, ★[११]आद्येऽपि नेष्टकश्चान्त्ये वैष्णवोधिकृतोत्रतः ★[१२]स्मृतः, ★[१३]अभ्यङ्गान्मर्दनैः, ★[१४]...स्वीयजनैर्भुक्तिः, ★[१५]सायंसन्ध्याहुतिश्चापि ★[१६]साधनदीपकं समाप्तम्.

॥चतुःश्लोकी॥
(२६)

(पुष्टिमार्गीयजीवानां ऐहिकपारलौकिकयोः सर्वविधहितस्यैव विधाता व्रजाधिपः सर्वात्मभावेन सेवनीयः)

सदा सर्वात्मभावेन भजनीयो व्रजेश्वरः॥
करिष्यति सएवास्मद् ऐहिकं पारलौकिकम्॥१॥

(पुष्टिमार्गे अन्याश्रयः पुष्टिमार्गीयेषु अनात्मभावश्च सर्वथा अकरणीयौ)

अन्याश्रयो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः॥
स्वकीयेष्वात्मभावश्च कर्तव्यः सर्वथा सदा॥२॥

(काल-कर्म-स्वभावादिदोषापहारकः श्रीकृष्णः सदा सर्वात्मना सेव्यः; श्रीकृष्णभक्तेषु च दोषबुद्धिः वर्जनीया)

सदा सर्वात्मना कृष्णः सेव्यः कालादिदोषनुत्॥
तद्भक्तेषु च निर्दोषभावेन स्थेयम् आदरात्॥३॥

(भगवति श्रीकृष्णएव मनःस्थापनीयः येन कठिनोऽपि कालो बाधको न भवेत्)

भगवत्येव सततं स्थापनीयं मनः स्वयम्॥
कालोऽयं कठिनोऽपि श्रीकृष्णभक्तान् न बाधते॥४॥

॥इति श्रीविठ्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचिता चतुःश्लोकी समाप्ता॥

★पुष्टि-अस्मिता★

दर्पस्तु भगवदीयतया स्वल्पो मृग्यएव अन्यथा ज्ञानमार्गात् को विशेषः स्यात्? परम् उद्गतो न अपेक्ष्यते.

(सुबोधिनी : १०।६०।२९).

जो स्वयं भगवदीय होता है उसे थोड़ा सा तो दर्प हृदयमें रखना ही चाहिये, अन्यथा ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के बीच अन्तर ही क्या रह जायेगा? इस दर्पको, परन्तु, व्यवहारमें सर्वदा उभारते रहना अर्थात् बाह्यप्रदर्शन अपेक्षित नहीं होता.

(१)निष्ठाभावे फलं तस्मात् नास्त्येवेति विनिश्चयः, निष्ठाच साधनैरेव न मनोरथ-वार्तया.

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।१८).

(१)कोई भी मार्ग निष्ठाके अभावमें फलप्रद हो ही नहीं पाता. यह निष्ठा फलको पानेके केवल मनोरथ या केवल वाणीविलास के द्वारा नहीं परन्तु साधनोंके अनुष्ठानद्वारा ही प्रकट हो पाती है.

(२/क)यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः.

(सुबोधिनी : २।९।१९).

(२/ख)यदैव कृष्णो रोचते तदैव विषयाः न रोचन्ते.

(सुबोधिनी : १।६।२७).

(२/क)जो व्यक्ति स्वार्थवश भगवान्की सेवा करता है उसे तो

अधम अधिकारी समझना चाहिये.

(२/ख)जब कृष्ण अच्छा लगना शुरु होता है तो विषय अच्छे लगने बंद होने लगते हैं.

(३/क)गुप्तो हि रसो रसत्वम् आपद्यते.

(सुबोधिनी : १०।१८।९).

(३/ख)अगुप्तस्तु रसाभासः स्यात्.

(सुबोधिनी : १०।९६।४४).

(३/क)रस जब तक गुप्त रहता है तभी तक रस होता है.

(३/ख)जो भाव गुप्त न रह पाया वह तो रसाभास बन जाता है.

(४)लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयम्!

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।१).

(४)जिनकी पत्नी स्वयं श्रीलक्ष्मी हो ऐसे भगवान्को हम क्या दे सकते हैं!

(५)जो ठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं. अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहुं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो.

(घरुवार्ता : प्रसंग ३).

(५)जो व्यक्ति अपने सेव्य-स्वरूपको भेंट किये गये द्रव्यको अपने उपभोगमें लेता है वह मेरा—महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणका सेवक अर्थात् वंशज भी—कभी नहीं हो सकता है. जो मेरा सेवक भगवदीय होगा वह तो कभी भी देवद्रव्य नहीं खायेगा. जो देवद्रव्यका उपभोग करेगा उसे महापतित समझ लेना!

(६)पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत

प्राणैः कण्ठगतैरपि.

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : २।२५३-२५४).

(६)प्राण कण्ठमें भी चाहे क्यों न अटक रहे हों श्रीमद्भागवतका पाठ धनोपार्जनार्थ तो कदापि नहीं करना चाहिये—सप्रयत्न सर्वहेतुरहित ही श्रीमद्भागवतका पाठ करना चाहिये.

(७/क)धनाभिनिविष्टचित्ताः न भगवत्सम्मुखा भवन्ति, बालाएव ते स्तनपानव्यग्रा मातरमेव मन्यन्ते.

(सुबोधिनी : ३।१६।२०).

(७/ख)'लोक'पदेन लौकिको अर्थः उच्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव.

(सिद्धान्तमुक्तावली. प्रकाश : १६-१७).

(७/क)जिनका चित्त धनमें ही लगा हुवा हो वे कभी भगवत्सम्मुख नहीं हो पाते, वे ऐसे दूधमुहें छोटे बालकोंके जैसे होते हैं जो केवल मांको ही जानते हों—अर्थात् अपने पिताको जो अभी पहचान न पाये हों.

(७/ख)'लोक' पदका अर्थ होता है—लैकिक विषय. लौकिक विषयोंकी कामना रखनेवाला, यदि श्रीकृष्णभजन करता भी हो और उससे व्यापारकी तरह कुछ प्राप्त भी हो जाये तो वह अनर्थरूप ही होनेसे, उसका किया-धरा सब कुछ क्लेशरूप ही होता है.

(८)यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहिर् आविष्करणं भवति.

(अणुभाष्य : ३।४।४९).

(८)जब तक प्रभु साक्षात् स्वयं हृदयमें नहीं विराजते तभी तक भावोंका बाह्य प्रदर्शन सम्भव होता है.

(९/क)चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा.

(सिद्धान्तमुक्तावली : २).

(९/ख)बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा...भजेत् कृष्णम्.

(भक्तिवर्धिनी : २).

(९/क)चित्तको भगवान्में तल्लीन बनाना हो तो अपने तन और अपने ही धन से भगवत्सेवा करनी चाहिये.

(९/ख)भक्तिका बीजभाव स्वयं अपने घरमें भगवद्भजन करनेसे दृढ़ होता है.

(१०)तस्मात् श्रीवल्लभाख्य! त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः.

(श्रीवल्लभाष्टक : ३)

(१०)इसलिये हे श्रीवल्लभ! जो शास्त्रवचनोंका अर्थ आपके वचनसे विपरीत करते हैं उन्हें सहज असुर होनेके कारण केवल अन्धन्तमोनर्कगामी ही जानना चाहिये.

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठपंक्त्योः	शोधनीयः पाठः
प्रका.५/२२	अशुद्धिः : आपनी
	शोधनम् : अपनी
अमृ.१७/४	अशुद्धिः : मुझे भेजे हुवे
	शोधनम् : मुझे–प्रस्तुत सम्पादकको–भेजे हुवे
३४/६	अशुद्धिः : स्वाम्यधीनत्व-भावनात्[२]
	शोधनम् : ...-भावनात्...विशेषतश्चेदाज्ञा...तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात्[२]
४६/१०	अशुद्धिः : ...सदृशः...तमो
	शोधनम् : ...सदृशाः...तमाः
५१/१	अशुद्धिः : वेश-गुरु-साधक-भावोद्बोधनोपाय-बाधकानाञ्च
	शोधनम् : वेश[१]-गुरु[२]-साधकभावोद्बोधनोपाय[३]-बाधकानाञ्च[४]
५१/२	अशुद्धिः : चान्यथा
	शोधनम् : चान्यथा[१]
५१/३	अशुद्धिः : गुरवः साधनं च तत्
	शोधनम् : गुरवः[२] साधनं च तद्-
५१/४	अशुद्धिः : नान्यदिष्यते
	शोधनम् : नान्यदिष्यते[३]
५१/६	अशुद्धिः : बाधकाः
	शोधनम् : बाधकाः[४]
५४/६	अशुद्धिः : शुकादीनाम्
	शोधनम् : शुकादीनां
५७/७	अशुद्धिः : अल्पत्वाद्[च/१]
	शोधनम् : अल्पत्वाद्[ज/१]
६८/१६	अशुद्धिः : देहचित्तादयोप्युत
	शोधनम् : देहचित्तादयोऽप्युत
७३/२	अशुद्धिः : वैष्णवव्रतोत्स[घ]
	शोधनम् : वैष्णवव्रतोत्सव[घ]
८८/१७	अशुद्धिः : लैकिक
	शोधनम् : लौकिक

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठपंक्त्योः	शोधनीयः पाठः
प्रका.५/२२	अशुद्धिः : आपनी **शोधनम् : अपनी**
अमृ.१७/४	अशुद्धिः : मुझे भेजे हुवे **शोधनम् : मुझे–प्रस्तुत सम्पादकको–भेजे हुवे**
३४/६	अशुद्धिः : स्वाम्यधीनत्व-भावनात्[२] **शोधनम् : ...-भावनात्...विशेषतश्चेदाज्ञा...तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात्[२]**
४६/१०	अशुद्धिः : ...सदृशः...तमो **शोधनम् : ...सदृशाः...तमाः**
५१/१	अशुद्धिः : वेश-गुरु-साधक-भावोद्बोधनोपाय-बाधकानाञ्च **शोधनम् : वेश[१]-गुरु[२]-साधकभावोद्बोधनोपाय[३]-बाधकानाञ्च[४]**
५१/२	अशुद्धिः : चान्यथा **शोधनम् : चान्यथा[१]**
५१/३	अशुद्धिः : गुरवः साधनं च तत् **शोधनम् : गुरवः[२] साधनं च तद्-**
५१/४	अशुद्धिः : नान्यदिष्यते **शोधनम् : नान्यदिष्यते[३]**
५१/६	अशुद्धिः : बाधकाः **शोधनम् : बाधकाः[४]**
५४/६	अशुद्धिः : शुकादीनाम् **शोधनम् : शुकादीनां**
५७/७	अशुद्धिः : अल्पत्वाद्[च/१] **शोधनम् : अल्पत्वाद्[ज/१]**
६८/१६	अशुद्धिः : देहचित्तादयोप्युत **शोधनम् : देहचित्तादयोऽप्युत**
७३/२	अशुद्धिः : वैष्णवव्रतोत्स[घ] **शोधनम् : वैष्णवव्रतोत्सव[घ]**
८८/१७	अशुद्धिः : लैकिक **शोधनम् : लौकिक**